February 2023

Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

फ़रवरी २०२३

श्रीअरविन्द आश्रम

पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन फ़रवरी २०२३

विषय-सूची

योग-समन्वय में समता	श्रीअरविन्द	३
श्रीमाँ के साथ पृथ्वी सिंह का पत्र-व्यवहार	श्रीमाँ	८
श्रीमाँ की शरण में जाना	श्रीअरविन्द	१७
२१ मार्च १९५६ का वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी' से	१८
नवीन तथा बेहतर जगत्	श्रीअरविन्द	१९
एक तीव्र अभीप्सा	श्रीमाँ	२०
साधना में कठिनाइयाँ	श्रीअरविन्द	२२
शरीर की चेतना का रूपान्तरण	'श्रीमातृवाणी' से	२४
श्रीअरविन्द के उत्तर (८७)		२६

योग-समन्वय में समता

श्रीअरविन्द ने कहा था कि सर्वांगीण योग की नींव हैं शान्ति तथा समता। *बुलेटिन* के इस तथा अन्य आगामी अंकों में हम *योग-समन्वय* के चार अध्याय देंगे जिनमें श्रीअरविन्द समता के बारे में बतलाते तथा उनके योग के आध्यात्मिक अभ्यास में उसकी प्रक्रिया के महत्त्व की व्याख्या करते हैं—सं.

समता की प्राप्ति और अहं का नाश

समग्र आत्म-निवेदन, पूर्ण समता, अहं का सम्पूर्ण उन्मूलन, प्रकृति का उसकी अज्ञानमय कार्यशैलियों से रूपान्तरकारी उद्धार—ये सब सोपान हैं जिनसे भागवत इच्छा-शक्ति के प्रति समस्त सत्ता एवं प्रकृति का समर्पण, अर्थात् सच्चा, सर्वांगीण एवं निश्शेष आत्मदान निष्पन्न तथा सिद्ध किया जा सकता है। सबसे पहले आवश्यक वस्तु है—अपने कर्मों में आत्म-निवेदन की पूर्ण भावना; इसे पहले-पहल सारी सत्ता में व्याप्त एक सतत संकल्प का रूप धारण करना होगा, फिर इसे उसकी एक आन्तरिक आवश्यकता बनना होगा, अन्त में इसे उसका एक स्वयं-प्रेरित पर सजीव एवं सचेतन अभ्यास तथा हममें, सभी प्राणियों में एवं विश्व के सभी व्यापारों में विद्यमान परम देव एवं निगूढ़ शक्ति के प्रति यज्ञरूप में सब कर्म करने का एक सहज स्वभाव ही बन जाना होगा। जीवन इस यज्ञ की वेदी है, कर्म आहुति हैं, वे परात्पर और विश्वमय शक्ति एवं उपस्थिति, जिनका हमें अभी ज्ञान या साक्षात्कार तो प्राप्त नहीं हुआ है पर अनुभूति या झाँकी मिली है, हमारे इष्टदेव हैं जिनके प्रति हमारे कर्म अर्पित होते हैं। इस यज्ञ या आत्म-निवेदन के दो पहलू हैं; एक तो स्वयं कर्म और दूसरा वह भाव जिससे उसे सम्पन्न किया जाता है, अर्थात् जो कुछ भी हम देखते, सोचते और अनुभव करते हैं उस सबमें अपने कर्मों के स्वामी की पूजा का भाव।

अपने अज्ञान में हम जो अच्छे-से-अच्छा प्रकाश साधिकार प्राप्त कर सकते हैं उसी से प्रारम्भ में हमारा कर्म भी निर्धारित होता है। उसी को हम करणीय कर्म समझते हैं। कर्म का मूलतत्त्व तो एक ही है, कर्म का रूप चाहे किसी भी हेतु से नियत क्यों न हो, चाहे वह हमारी कर्तव्य-विषयक भावना से नियत हो या अपने सजातीयों के प्रति हमारी सहानुभूति से, अथवा दूसरों के लिए या संसार के लिए क्या हितकर है इस विषय में हमारी धारणा से नियत हो अथवा एक ऐसे व्यक्ति के आदेश से जिसे हम मानव-गुरु मानते हैं, जो हमसे अधिक ज्ञानी है तथा हमारे लिए कर्ममात्र के उस स्वामी का प्रतिनिधि है जिसमें हम आस्था तो रखते हैं, पर जिसे हम अभी तक जानते नहीं। परन्तु कर्म-यज्ञ का मूलतत्त्व हमारे कर्मों में अवश्य होना चाहिये और वह मूलतत्त्व है अपने कर्मों के फल की समस्त कामना का समर्पण, कर्म के जिस

परिणाम के लिए हम अब तक भी हाथ-पाँव मारते हैं उसके प्रति आसक्ति-मात्र का परित्याग। कारण, जब तक हम फल में आसक्ति रखते हुए कर्म करते हैं तब तक यज्ञ भगवान् के प्रति नहीं बल्कि हमारे अहं के प्रति ही अर्पित होता है। हम भले ही दूसरी तरह सोचें, पर हम अपने को धोखा दे रहे होते हैं; भगवान्-विषयक अपने विचार की, कर्तव्य-विषयक अपनी भावना की, अपने सजातीयों के प्रति सहानुभूति की, संसार के या दूसरों के हित के सम्बन्ध में अपनी धारणा की, गुरु के प्रति अपने आज्ञापालन तक की ओट में हम अपनी अहंकारमयी तृप्तियों तथा अभिरुचियों को छिपाये होते हैं तथा अपनी प्रकृति में से कामना-मात्र का उन्मूलन करने की हमसे जो माँग की जाती है उससे बचने के लिए इन सभी चीज़ों को दिखावटी ढाल के रूप में प्रयुक्त कर रहे होते हैं।

योग की इस अवस्था में और इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया में भी कामना का यह रूप एवं अहं का यह आकार एक ऐसा शत्रु होता है जिसके विरुद्ध हमें सदैव निद्राहीन जागरूकता के साथ सावधान रहना होगा। जब हम इसे अपने अन्दर छुपे हुए और सब प्रकार के भेस धारण करते हुए पायें तो हमें निरुत्साहित नहीं होना चाहिये, बल्कि इसके सभी छद्मरूपों के पीछे इसे ढूँढ़ निकालने के लिए सजग रहना चाहिये और इसके प्रभाव को दूर करने के लिए निष्ठुर। इस गति का प्रकाशप्रद शब्द *गीता* की यह निर्णायक पंक्ति है, "कर्म करने में तेरा अधिकार है, परन्तु उसके फल पर कभी, किसी भी अवस्था में नहीं।"[१] फल तो केवल कर्म-मात्र के स्वामी का ही है; हमारा इससे इतना ही मतलब है कि हम सच्चाई और सावधानी के साथ कर्म करके उसका फल तैयार करें और यदि यह प्राप्त हो जाये तो इसे इसके दिव्य स्वामी को सौंप दें। जैसे हमने फल के प्रति आसक्ति का त्याग किया है वैसे ही हमें कर्म के प्रति आसक्ति भी त्यागनी होगी। एक काम, एक कार्यक्रम या एक कार्यक्षेत्र के स्थान पर दूसरे को ग्रहण करने अथवा, यदि प्रभु का स्पष्ट आदेश हो, तो सब कर्मों को छोड़ देने के लिए भी हमें प्रतिक्षण तैयार रहना होगा। अन्यथा हम कर्म प्रभु के लिए नहीं करते, बल्कि कर्म से मिलने वाली निजी सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता के लिए अथवा राजसिक प्रकृति को कर्म की आवश्यकता होने के कारण या अपनी रुचियों की पूर्ति के लिए करते हैं; पर ये सब तो अहं के पड़ाव और आश्रय-स्थल हैं। हमारे जीवन की साधारण चेष्टाओं के लिए ये कैसे भी आवश्यक क्यों न हों, फिर भी आध्यात्मिक चेतना की प्रगति में इनका त्याग करना होगा, इनके स्थान पर इनके दिव्य प्रतिरूपों की प्रतिष्ठा करनी होगी। आनन्द, अर्थात् निर्वैयक्तिक एवं ईश्वर-प्रेरित आनन्द अप्रकाशित प्राणिक सुख-सन्तोष को और भागवत शक्ति का आनन्दपूर्ण आवेग राजसिक आवश्यकता को बहिष्कृत अथवा पदच्युत कर देगा। अपनी रुचियों की पूर्ति करना हमारी कोई आवश्यकता या उद्देश्य नहीं रहेगा, इसके स्थान पर स्वतन्त्र आत्मा और प्रकाशयुक्त प्रकृति के कर्म में एक स्वाभाविक क्रियाशील सत्य के द्वारा भगवत्संकल्प की परिपूर्ति करना ही हमारा उद्देश्य हो जायेगा। अन्त में, जैसे कर्मफल तथा कर्म के प्रति आसक्ति हृदय से बाहर निकाल दी गयी है, वैसे ही अपने कर्ता होने के विचार

[१] कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता २-४७।

तथा भाव के प्रति अन्तिम दृढ़ आसक्ति भी छोड़नी होती है; भगवती शक्ति को अपने ऊपर तथा अन्दर इस रूप में जानना एवं अनुभव करना होता है कि वही सच्ची तथा एकमात्र कर्त्री है।

*

कर्म तथा उसके फल के प्रति आसक्ति का परित्याग मन एवं अन्तरात्मा में पूर्ण समता की प्राप्ति के लिए एक विशाल गति का प्रारम्भ है; यदि हमें आत्मा में पूर्णता प्राप्त करनी है तो इस समता को सर्वतोव्यापी बनना होगा। कारण, कर्मों के स्वामी की पूजा यह माँग करती है कि हम अपने अन्दर 'सब' वस्तुओं तथा सभी घटनाओं में उनके स्वामी को स्पष्ट रूप से पहचानें तथा हर्षपूर्वक स्वीकार करें। समता इस पूजा का प्रतीक है; यह आत्मा की वेदी है जिस पर सच्चा यजन-पूजन किया जा सकता है। प्रभु सभी प्राणियों में समान रूप से विराजमान हैं, स्वयं और दूसरों में, ज्ञानी और अज्ञानी में, मित्र और शत्रु में, मनुष्य और पशु में, पापी और पुण्यात्मा में हमें किसी भी प्रकार का कोई तात्त्विक भेद नहीं करना चाहिये। हमें किसी से घृणा नहीं करनी चाहिये, किसी को नीच नहीं समझना चाहिये, किसी से जुगुप्सा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सभी में हमें उस एकमेव के दर्शन करने चाहियें जो स्वेच्छापूर्वक प्रकट या प्रच्छन्न है। प्रभु वस्तुओं तथा व्यक्तियों में जो भी आकार धारण करना चाहते हैं तथा उनकी प्रकृति में जो भी कर्म करना चाहते हैं व्यक्ति के लिए जो कुछ सर्वोत्तम है उसके अनुसार अपने ज्ञान तथा साथ ही अपनी इच्छा के द्वारा वे किसी एक में कम प्रकट होते हैं तो किसी दूसरे में अधिक, अथवा कुछ में गुप्त तथा पूर्णतः विकृत रूप धारण कर लेते हैं। सब कुछ हमारी आत्मा ही है, वही एक आत्मा जिसने अनेक रूप धारण कर रखे हैं। घृणा-द्वेष और अवज्ञा-वितृष्णा, मोह-आसक्ति और राग-अनुराग किसी विशेष अवस्था में स्वाभाविक, आवश्यक एवं अनिवार्य होते हैं; ये हमारे अन्दर प्रकृति के चुनाव का साथ देते हैं अथवा उसे बनाने और बनाये रखने में सहायक होते हैं। परन्तु कर्मयोगी के लिए तो ये एक पुरानी वस्तु के अवशेष होते हैं, मार्ग के विघ्न और अज्ञान की प्रक्रिया होते हैं और जैसे-जैसे वह प्रगति करता है, ये उसकी प्रकृति से झड़ कर अलग हो जाते हैं। शिशु-आत्मा को अपने विकास के लिए इनकी आवश्यकता होती है; लेकिन दिव्य विकास में एक प्रौढ़ आत्मा से ये अलग हो जाते हैं। दैवी प्रकृति में, जिसकी ओर हमें आरोहण करना है, एक वज्रोपम, यहाँ तक कि विनाशक कठोरता हो सकती है, परन्तु घृणा नहीं; दिव्य व्यंग्य हो सकता है, किन्तु तिरस्कार नहीं; शान्त, स्पष्टदर्शी और प्रबल अस्वीकृति हो सकती है पर घृणा और जुगुप्सा नहीं। जिस वस्तु का हमें विनाश करना है उससे भी घृणा नहीं करनी चाहिये और हमें यह मानना ही होगा कि वह भी उस सनातन की ही एक छिपी हुई और अस्थायी गति है।

और, चूँकि सभी वस्तुओं में एक ही आत्मा अभिव्यक्त होती है अतः हमें कुरूप तथा सुन्दर, पंगु तथा पूर्ण, सभ्य तथा असभ्य, रुचिकर तथा अरुचिकर, शुभ तथा अशुभ के प्रति आत्मिक समता धारण करनी चाहिये। यहाँ भी घृणा, अवज्ञा एवं जुगुप्सा रत्ती-भर नहीं होंगी,

बल्कि इनके स्थान पर होगी वह समदृष्टि जो सब वस्तुओं को उनके सत्य स्वरूप तथा नियत स्थान में देखती है। क्योंकि, हमें जानना चाहिये कि सभी चीज़ें यथासम्भव उत्तम रीति से या किसी अपरिहार्य त्रुटि के साथ, अपने लिए अभिमत परिस्थितियों में, अपनी प्रकृति की तात्कालिक अवस्था या इसके विकास के लिए सम्भवनीय ढंग से, भगवान् के किसी ऐसे सत्य या तथ्य अथवा उनकी शक्ति या सामर्थ्य को ही प्रकाशित या आच्छादित और विकसित या विकृत करती हैं जो वर्धनशील अभिव्यक्ति में अपनी उपस्थिति के द्वारा वस्तुओं की वर्तमान सम्पूर्ण समष्टि की भलाई और अन्तिम परिणाम की पूर्णता के लिए आवश्यक होती है। उसी सत्य की हमें अस्थायी अभिव्यक्ति के पीछे खोज एवं उपलब्धि करनी होगी। तब हम प्रतीतियों से और अभिव्यक्ति की त्रुटियों या विकृतियों की कारा में बन्द न होकर उन प्रभु की पूजा कर सकेंगे जो अपने आवरणों के पीछे सदा निष्कलुष, शुद्ध, सुन्दर और परिपूर्ण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सभी कुछ बदल डालना है, कुरूपता का नहीं, बल्कि दिव्य सुन्दरता का चयन करना है, अपूर्णता को अपना विश्राम-स्थल नहीं मानना है, बल्कि पूर्णता के लिए प्रयास करना है, अशिव को नहीं, बल्कि परम शिव को अपना सार्वभौम लक्ष्य बनाना है। परन्तु हम जो कुछ भी करें उसे आध्यात्मिक समझ तथा ज्ञान के साथ करना होगा; हमें केवल दिव्य शुभ, सौन्दर्य, पूर्णत्व तथा हर्ष की प्राप्ति के लिए ही चेष्टा करनी होगा, इनके मानवीय मानकों की प्राप्ति के लिए नहीं। यदि हमारे अन्दर समता नहीं है, तो यह इस बात का चिह्न है कि अविद्या अभी तक हमारे पीछे लगी है; हम वास्तव में कुछ भी नहीं समझ पायेंगे और यह सम्भव ही नहीं बल्कि निश्चित-सा है कि तब हम पुरानी अपूर्णता का नाश केवल दूसरी को जन्म देने के लिए ही करेंगे; क्योंकि तब हम अपने मानव-मन तथा कामनामय पुरुष की चीज़ों को दिव्य वस्तुओं के स्थान पर रख रहे होंगे।

समता का अर्थ कोई नया अज्ञान अथवा अन्धता नहीं है; यह हमसे दृष्टि के धुँधलेपन की तथा समस्त विविधता के अन्त की माँग नहीं करती और न इसे ऐसा करने की आवश्यकता ही है। भेद का अस्तित्व तो है ही, अभिव्यक्ति की विविधता भी विद्यमान है और इस विविधता की हम सराहना करेंगे—पहले जब हमारी दृष्टि पक्षपातपूर्ण तथा भ्रान्तिशील प्रेम और घृणा से, स्तुति और निन्दा से, सहानुभूति और वैर-विरोध से तथा राग और द्वेष से तिमिराच्छन्न थी तब हम इसे जितना समझ पाते थे उसकी अपेक्षा अब बहुत अधिक ठीक रूप में समझ पायेंगे। परन्तु इस विविधता के मूल में हम सदा उस परिपूर्ण तथा निर्विकार ब्रह्म को ही देखेंगे जो इसके अन्दर विराजमान हैं और किसी भी विशिष्ट अभिव्यक्ति के—चाहे वह हमारे मानवीय मानदण्डों को सामञ्जस्यपूर्ण एवं पूर्ण प्रतीत होती हो या बेडौल एवं अपूर्ण और चाहे वह मिथ्या एवं अशुभ ही क्यों न प्रतीत होती हो—ज्ञानपूर्ण प्रयोजन या दिव्य आवश्यकता को हम अनुभव करेंगे और जानेंगे अथवा यदि यह हमसे छिपी हुई हो तो कम-से-कम इसमें विश्वास अवश्य करेंगे।

इसी प्रकार हम दुःखदायी वा सुखदायी सभी घटनाओं के प्रति, जय और पराजय, मान और अपमान, यश और अपयश तथा सौभाग्य और दुर्भाग्य के प्रति मन तथा आत्मा की ऐसी

ही समता बनाये रखेंगे। कारण, सभी घटनाओं में हम समस्त कर्मों तथा फलों के स्वामी की इच्छा के दर्शन करेंगे तथा उन्हें भगवान् की विकासशील अभिव्यक्ति के अगले सोपान के रूप में अनुभव करेंगे। देखने वाली अन्दर की आँख जिनकी खुली हुई है उनके सम्मुख भगवान् अपने-आपको शक्तियों तथा उनकी क्रीड़ा एवं परिणामों में और वस्तुओं तथा प्राणियों में प्रकट करते हैं। सभी वस्तुएँ एक दिव्य घटना की ओर बढ़ रही हैं; हर्ष तथा सन्तोष की भाँति प्रत्येक अनुभव, दु:ख एवं अभाव भी वैश्व गति को, जिसे समझना तथा पुष्ट करना हमारा कर्तव्य है, पूरा करने में एक आवश्यक कड़ी होता है। विद्रोह, निन्दा या चीख-पुकार हमारी अपरिष्कृत एवं अज्ञानयुक्त अन्ध-प्रवृत्तियों का आवेग होती है। दूसरी प्रत्येक वस्तु की तरह लीला में विद्रोह के भी अनेक उपयोग हैं, यहाँ तक कि वह दिव्य विकास के यथासमय और यथास्थिति सम्पन्न होने के लिए आवश्यक है, सहायक है तथा विहित है; किन्तु अज्ञानमय विद्रोह की चेष्टा आत्मा की बाल्यावस्था या उसके अप्रौढ़ यौवन से सम्बन्ध रखती है। परिपक्व आत्मा दोषारोपण नहीं करती, बल्कि समझने तथा अधिकृत करने का यत्न करती है, चीख-पुकार नहीं मचाती, बल्कि स्वीकार कर लेती है या सुधरने तथा पूर्ण बनने का प्रयास करती है, अन्दर से विद्रोह नहीं करती, बल्कि आज्ञापालन करने और चरितार्थ तथा रूपान्तरित करने की कोशिश करती है। इसलिए, हम स्वामी के हाथों से सभी वस्तुओं को समभाव के साथ ग्रहण करेंगे। जब तक दिव्य विजय का मुहूर्त नहीं आ जाता तब तक हम असफलता को भी एक प्रसंग के रूप में उसी प्रकार शान्तिपूर्वक स्वीकार करेंगे जिस प्रकार सफलता को। दारुणतम पीड़ा और दु:ख-कष्ट से भी, यदि विधि के विधान में वे हमें प्राप्त हों, हमारी आत्माएँ, मन और तन चलायमान नहीं होंगे, और न ये तीव्र-से-तीव्र हर्ष एवं सुख से ही अभिभूत होंगे। इस प्रकार अत्यन्त सन्तुलित होकर, सभी वस्तुओं के साथ पूर्ण शान्ति से सम्पर्क में आते हुए हम स्थिरतापूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ते जायेंगे जब तक कि हम एक अधिक ऊँची अवस्था के लिए तैयार नहीं हो जाते और परम एवं विराट् आनन्द में प्रवेश नहीं कर पाते।

CWSA खण्ड २३, पृ. २२१-२५ **श्रीअरविन्द**

श्रीमाँ के साथ पृथ्वी सिंह का पत्र-व्यवहार

(गतांक से आगे)

(श्रीमाँ शिष्य से ३ जून १९५३ को उसके जन्मदिन पर मिलीं और १९५० में उससे उन्होंने श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के बारे में बातचीत की थी। एक हफ़्ते बाद शिष्य ने उन्हें उनके बीच हुई बातचीत का लेखा-जोखा भेजा। माँ ने उसमें एक वाक्य का संशोधन किया और उसे वापस भेज दिया। यहाँ अन्त में माँ की टिप्पणी के साथ उस बातचीत का संशोधित रूप दिया जा रहा है।)

माँ के साथ हुए एक साक्षात्कार में—जो उन्होंने इतनी कृपापूर्वक मुझे ३ तारीख़ को दिया—मैंने उन्हें अपनी उस अनुभूति के बारे में बतलाया जो मुझे श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के कुछ दिन पहले हुई थी। एक स्वप्न-अन्तर्दर्शन में उनसे मुझे एक 'सन्देश' प्राप्त हुआ जिसे पढ़ते समय मैं भाव-विह्वलता की गहराइयों में उतर गया और जिसका अन्तिम वाक्य अब भी मेरे हृदय में स्पष्ट रूप से बज रहा है: "मैं नीचे जा रहा हूँ, लेकिन मैं शीघ्र ही उज्ज्वल-कान्तिमय रूप में ऊपर आने वाला हूँ।"

माँ ने बहुत ध्यानपूर्वक सब सुना और जब मैंने उनसे पूछा कि क्या मैं इसे इस रूप में ले सकता हूँ कि प्रभु की वापसी सुनिश्चित है, उन्होंने मेरे सम्मुख एक भव्य घटना प्रकट की। मैंने उसे जहाँ तक मुझे याद है, उन्हीं के शब्दों में लिख लिया। उन्होंने कहा था:

"सवेरे (५ दिसम्बर १९५०) जब मैं उनके कक्ष में थी, वे स्थिर गति से निरन्तर अपने शरीर से निकल कर मेरे शरीर में प्रवेश कर रहे थे; वह इतना अधिक था कि मैंने अपने शरीर के कोषाणुओं में भौतिक रगड़ का अनुभव किया; उसके साथ-साथ एक महान् शक्ति ने मेरे अन्दर प्रवेश किया और मुझे ऐसी अनुभूति हुई कि मैं उन्हें पुनरुज्जीवन प्रदान करने में समर्थ हूँ। लेकिन जब मैंने उनसे यह कहा तो वे बोले, 'नहीं। जान-बूझकर मैंने अपना शरीर छोड़ा है, मैं इसमें वापस नहीं आऊँगा, मैं नूतन शरीर में लौट कर आऊँगा—अतिमानसिक तरीक़े से निर्मित पहले शरीर में।' (श्रीमाँ ने इस वाक्य में संशोधन किया था। यहाँ संशोधित वाक्य ही दिया गया है)।"

और उन्होंने जल्दी यह भी जोड़ दिया: "लेकिन उन्होंने वह समय नहीं बतलाया जब वे लौट कर आयेंगे।"

फिर मैंने माँ से कहा: "निश्चित रूप से आपको उस समय का पता है,

लेकिन अगर मैं पूछूँ तो आप नहीं बतलायेंगी और मुझे पता है कि यह पूछना ठीक नहीं है।"

उन्होंने एक मोहक मुस्कान बिखेर दी।

मैं तुम्हें संशोधित विवरण भेज रही हूँ—लेकिन यह सिर्फ़ तुम्हारे लिए है, दूसरों को दिखलाने के लिए नहीं।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

१२ जून १९५३

मेरी मधुर माँ,

चार-पाँच दिन पहले, कुण्डलिनी के ऊपर चढ़ने, नीचे उतरने की अनुभूति के समय मैंने अनुभव किया, कह सकते हैं कि प्रकाश के एक प्रबल दबाव को देखा जो आँख की नसों में प्रवेश करके मानों उन्हें साफ़ कर रहा था।

वैसे शरीर के बाहरी हिस्से में कोई प्रभाव नहीं दीख रहा है; शायद यह संवेदना मात्र मेरी कल्पना हो, एक तरह का शुभेच्छापूर्ण चिन्तन। यह भी हो सकता है कि आपकी 'शक्ति' की इस तरह की सूक्ष्म क्रिया जड़-भौतिक स्तर पर प्रभाव डालने में थोड़ा समय ले।[१] *या फिर 'शक्ति' की क्रिया के बारे में यह मेरी पूरी तरह से ग़लत व्याख्या हो जो सचमुच किसी दूसरे उद्देश्य के लिए उतरी हो। लेकिन मैं आपको बस लिख रहा हूँ माँ, क्योंकि यह सब इतना जीवन्त था।*

अपने मन में ज़्यादा-से-ज़्यादा शान्त और अचञ्चल रहो और 'शक्ति' को क्रिया करने दो। यह अपना प्रभाव डाल कर रहेगी, लेकिन हो सकता है कि उस प्रभाव को स्पष्ट रूप में देखने में कुछ समय लगे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१८ मई १९५४

मेरी मधुर माँ,

मुझे किसी ने एक वाक्य सुनाया जिसे आपने या तो कहा था या फिर लिखा था। मैं उसकी प्रामाणिकता के लिए आपके पास लिख कर भेज रहा हूँ। शब्दों से लगता है कि वे आपसे ही आये हैं। यह उससे भी मेल खाता है जिसकी आपने १ २ ३ ४ इत्यादि संख्याओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी—२३ अप्रैल १९५६ (२३.४.५६) की तारीख़ के बारे में।

[१] माँ ने इस वाक्य के चारों ओर घेरा बना कर हाशिये पर लिखा, "यह सही है।"

मैं यह जान कर ख़ुश होऊँगा कि क्या आपने ही यह वाक्य कहा है। यह रहा वह :

"पथरीली धरती पर कठिनाई से बोये बीजों की अब स्वर्णिम फसल १९५६ में उगेगी।"

मेरी शैली से अधिक तो यह 'अ' की शैली लग रही है। मैं तो बस यही आशा कर सकती हूँ कि यह सच हो!

मेरे आशीर्वादों के साथ।

१५ दिसम्बर १९५५

मेरे प्यारे बच्चे,

रात तक मुझे पता नहीं चला कि आशीर्वाद के लिए तुम क्रीड़ांगण में नहीं आ रहे हो। वरना मैं तुम्हें आशीर्वाद के दो शब्द लिख कर भेज देती।

तो अब, कुछ देर हो गयी, लेकिन कभी बहुत देर नहीं हुआ करती, मैं तुमसे कहती हूँ

Bonne fête! et Bonne année!
(शुभ जन्मदिन! और शुभ नववर्ष!)

मेरे समस्त प्रेम और आशीर्वाद सहित।
ऐसा हो कि यह वर्ष तुम्हारे लिए सभी स्तरों पर आमूल तथा सर्वांगीण प्रगति का वर्ष हो।

३ जून १९५६

मेरी मधुर माँ,

मैं आपसे दो चीज़ों के बारे में पूछना चाहता था :

पिछली बार अपने जन्मदिन पर जब मैं ऊपर आपके पास था, मुझे ऐसा लगा मानों समय का अस्तित्व ही न हो। आध्यात्मिक अर्थ में कालातीतता नहीं, बल्कि बस यही भाव था कि बस मैं और आप ही वहाँ थे, और किसी चीज़ का, किसी भी व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं था।[१]

ठीक यही अनुभूति है जो मैं चाहती थी कि तुम्हें हो। मैं तुम्हारी ग्रहणशीलता पर प्रसन्न हूँ।

भले कुछ ही क्षणों के लिए, लेकिन मुझे एकदम से एक नयी अनुभूति हुई। मेरे ख़याल से इसका कारण यह हो कि उस समय मेरे ऊपर ऐकान्तिक रूप से एकाग्रता

[१] माँ ने "यही भाव था" से लेकर अन्त तक वाक्य के नीचे लकीर खींच दी।

बनी हुई थी। लेकिन मुझे मालूम नहीं। शाम को, क्रीड़ांगण में ऐसा नहीं था।

दूसरी बात मेरी एक ऐसी अनुभूति के बारे में है जो मुझे तीन अवसरों पर क्रीड़ांगण में हुई। अर्ध-निद्रित अचेतन अवस्था के बाद अचानक, जैसे ही चेतना पूरी तरह से जाग्रत् तथा चौकन्नी हो गयी, एक बहुत ही उत्कृष्ट सुन्दर भावना या यूँ कहूँ कि एक तीव्र प्रत्यक्ष ज्ञान का अरुणोदय हुआ कि समस्त सत्ता की स्पन्दनशील निश्चलता में शरीर का हर एक कोषाणु 'प्रकाश' की शक्ति के साथ धधक रहा था। यह पूर्ण निश्चल-नीरवता की मेरी उस अनुभूति से भिन्न थी जो मुझे एक बार हुई थी। यद्यपि यह अधिक-से-अधिक बस एकाध मिनट तक रही, लेकिन उसी में मैं पहली बार शरीर के असंख्य कोषाणुओं और उनके अन्दर आपकी उस 'शक्ति' की क्रिया के बारे में अभिज्ञ हुआ जो उनमें ऐसी प्रदीप्त और भावविह्वलपूर्ण निश्चलता का झरना बहा रही थी जिसे शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता।[१]

यह वह अनुभूति है जो मैं तुम्हें ध्यान के समय दे रही थी। अतः, यह भी एकदम सही है और मैं प्रसन्न हूँ कि तुम इसके बारे में सचेतन थे।

मेरे प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

९ जून १९५७

(निम्नलिखित पत्र में शिष्य अपने जन्मदिन पर हुई अनुभूति का ब्योरा दे रहा है।)

'द' के साथ आपके सामने आकर मैंने आपको प्रणाम किया। मुझे अनुभव हो रहा था कि मैं एक दिव्य 'उपस्थिति' के सम्मुख घुटने टेक रहा हूँ जो तेजस्वी, सर्वशक्तिमान् और शालीन है। केवल भगवान् ही हैं जो इतनी गहरी समझ और अनुकम्पा के साथ मनुष्य पर टिके रहते हैं।

उस समय मुझे बहुत ही अजीब अनुभूति हुई—मुझे आपका चेहरा दिखायी नहीं दे रहा था,[२] *लेकिन मैं आपके आकार की रूपरेखा तथा आप जिस सुन्दर मुद्रा में विराजमान थीं उसका कुछ आभास तो पा ही रहा था। उसमें श्रद्धायुत् प्रेरणा थी, साथ ही वह भरपूर थी पूर्ण दयालुता तथा प्रेम से। उस समय मैंने प्रबल रूप से श्रीअरविन्द की 'उपस्थिति' का अनुभव किया। साथ ही मेरे वहाँ से उठने के ठीक पहले जब आपने अपनी उँगलियों से मेरा माथा सहलाया तब भी मुझे वही समान अनुभूति हुई कि वह श्रीअरविन्द का ही हाथ था जिसमें श्रीमाँ के स्पर्श की मधुरता जुड़ गयी थी। अब भी जब मैं उस अनुभूति के बारे में सोचता हूँ, मैं कृतज्ञता के*

[१] माँ ने "आपकी उस शक्ति" से लेकर अन्त तक वाक्य के नीचे लकीर खींच दी।

[२] शिष्य की आँखें बहुत ही ख़राब थीं।

भावों से अभिभूत हो जाता हूँ।

पृथ्वी सिंह, मेरे प्यारे बच्चे,

तुम्हारे जन्मदिन पर तुम्हारी वह अनुभूति प्रत्यक्ष रूप से सच्ची थी।

तुम्हें आशीर्वाद देने के लिए श्रीअरविन्द वहाँ उपस्थित थे और मैं प्रसन्न हूँ कि तुम इसके बारे में अभिज्ञ हो सके।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१७ जून १९६०

(शिष्य द्वारा 'सावित्री' को बंगला में अनुवाद करने के बारे में)

पृथ्वी सिंह, मेरे प्यारे बच्चे,

अगर तुम चाहते हो कि इस मामले में मैं अपना दृष्टिकोण *स्पष्ट रूप में* व्यक्त करूँ तो मुझे कहना पड़ेगा कि मैं समझती हूँ कि '*सावित्री' का अनुवाद किया ही नहीं जा सकता* और मैं इसके अनुवाद को कभी प्रोत्साहन नहीं दूँगी, सिवाय तब जब व्यक्ति इस अद्वितीय चमत्कार पर एकाग्रता के लिए इसके अनुवाद का अभ्यास करे तो बात अलग हो जाती है; लेकिन छपाई के लिए हर्गिज़ नहीं। यही कारण है कि अनुवाद के विषय को मैं कोई महत्त्व नहीं देती।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

१४ दिसम्बर १९६१

पृथ्वी सिंह,

निश्चित रूप से, अपने लाभ के लिए तुम '*सावित्री*' का अनुवाद जारी रख सकते हो और मुझे विश्वास है कि श्रीअरविन्द की सहायता हमेशा तुम्हारे साथ रहेगी।

प्रेम और आशीर्वाद सहित।

१५ दिसम्बर १९६१

मेरी मधुर माँ,

१५ अगस्त[१] का ध्यान बहुत प्रगाढ़ और गभीर था। शुरू में ही मैंने एक गहरी निश्चल-नीरवता का अनुभव किया मानों कोई विचारों को निचोड़ कर बाहर निकाल रहा था। साथ ही ऐसी अनुभूति हो रही थी कि किसी महान् उपस्थिति के सम्मुख पूरा आश्रम निश्चल और शान्त बन गया था। मुझे पता नहीं कि यह क्या था, लेकिन ऐसा बहुत कम समय के लिए रहा। कुछ समय के बाद विचारों ने फिर से मन को परेशान करना शुरू कर दिया।

[१]श्रीअरविन्द का जन्म-दिवस। आश्रम के परिसर में श्रीअरविन्द की समाधि के चारों ओर ध्यान हुआ।

मैं बस माँ को सूचित कर रहा हूँ कि उस महान् दिवस पर मैंने क्या अनुभव किया।

श्रीअरविन्द—विराट् और बहुत ठोस रूप में (सूक्ष्म भौतिक में)—ध्यान के सारे समय आश्रम के सम्पूर्ण परिसर में विराजमान थे।

२८ अगस्त १९६२

मेरी मधुर माँ,

मैं एक चीज़ के बारे में जानना चाहूँगा।

ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य के पाँच आवरण या माध्यम होते हैं। भौतिक आवरण मृत्यु के समय गिर जाता है। प्राणिक तथा मानसिक तब विलीन होते हैं जब अन्तरात्मा अन्त में चैत्य स्तर के विश्राम-स्थल पर पहुँच जाती है जहाँ निदिध्यासनमयी निद्रा में वह अपने भावी जन्म के लिए पूर्व जन्मों की अनुभूतियाँ आत्मसात् करती है। अब, कारण-शरीर का—अतिमानसिक तथा आनन्दमय माध्यमों का क्या होता है? शायद वे विलीन नहीं होते, लेकिन क्या वे स्वयं को अन्तरात्मा से अलग कर लेते हैं ताकि अगले जन्म में उसके साथ फिर से जुड़ जायें, या कारण-रूप में क्या वे तब तक हमेशा बने रहते हैं—यहाँ तक कि चैत्य लोक में भी—जब तक व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता नहीं पा लेता और अपने-आपको परात्पर या निर्वाण में खो नहीं देता?

मैं इस चीज़ के बारे में जानना चाहूँगा माँ।

हन्त! अभी तक कोई भी अतिमानसिक शरीर निर्मित नहीं हुआ है! इसे उपलब्ध करना अभी बाक़ी है।

२३ सितम्बर १९६४

(आश्रम के विरोध में हुए दंगों के बारे में)

अभी जो हुआ उसका कारण हिन्दी-विरोधी आन्दोलन नहीं लगता। इसका फ़ायदा उठाते हुए कुछ असामाजिक तत्त्वों ने बस इसे आश्रम-विरोधी गतिविधियों की तरफ़ मोड़ दिया, लेकिन भगवान् के विरुद्ध वे कभी नहीं टिक सकते। भले विरोधी दल चाहे जितना दर्शाये कि अब समय आ गया है कि सतही चीज़ें बदल जायेंगी। यह सब कुछ धरती की अपरिहार्य नियति के मार्ग में बाधा देने, उसमें देर लगाने के लिए हो रहा है। वर दीजिये कि सभी विघ्न-बाधाओं पर श्रीमाँ की 'शक्ति' विजयी हो।

अपरिहार्य उपलब्धि में कोई देर नहीं लगा सकता।

१६ फ़रवरी १९६५

(इज़राइल और मिस्र (ईजिप्ट) के बीच चल रहे युद्ध के छठे दिन साधक ने लिखा)

मेरी मधुर माँ,

मिडिल ईस्ट में चल रही लड़ाई शायद अतिमानसिक क्रिया के विरुद्ध प्रतिरोध दर्शाने का सीधा परिणाम है।

श्रीअरविन्द के शब्दों में ऐसा लगता है कि "रुद्र ने अभी तक धरती को अपनी हथेली में पकड़े रखा है।"

इस सन्दर्भ में मैं जानना चाहूँगा कि अरब-इज़राइल के बीच बढ़ते हुए इस युद्ध में हमें कैसा मनोभाव रखना चाहिये। क्या हमारे विचार इज़राइलों की तरफ़ हों या फिर दूसरी तरफ़। या फिर अगर दोनों में से एक भी भगवान् को मूर्त रूप नहीं दे सकता तो हमें किसी की भी विजय के प्रति उदासीन ही रहना चाहिये। बहरहाल, मुझे पूरा विश्वास है कि इससे उपलब्धि पर कोई असर न पड़ेगा, जैसा कि माँ ने एक बार मुझे लिखा था, "अपरिहार्य उपलब्धि में कोई देर नहीं लगा सकता।"

पृथ्वी सिंह,

जो 'सत्य' की सेवा करते हैं वे किसी एक या दूसरे, यानी, किसी की भी तरफ़ नहीं ले सकते।

सत्य संघर्ष और विरोध के ऊपर होता है।

वास्तव में, सभी देश प्रगति तथा उलब्धि के प्रति सामान्य प्रयास में एकजुट होते हैं।

७ जून १९६७

मेरी मधुर माँ,

अपने जन्मदिन पर जब मैंने आपको देखा तब 'प्रेम' की शक्ति तथा तीव्रता पाकर मैं निहाल हो गया। यह वही समान भावना थी जब मैंने इज़राइल के युद्ध पर आपका स्नेहपूर्ण सन्देश पढ़ा था। इस सबने न केवल मानसिक रूप से बल्कि मेरी सत्ता की गहराई तक में मुझे यह सुनिश्चित विश्वास दिला दिया है कि भागवत कोप से कहीं अधिक महान् भागवत 'प्रेम' है।

अब मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि एक और मुद्दे पर आप प्रकाश डालें। फ़िलहाल, अतिमानसिक शक्ति के साथ सीधी क्रिया चल रही है। लेकिन स्वार्थ, संघर्ष तथा असामञ्जस्य के इस जगत् में इसकी तात्कालिक क्रिया उत्साहित करने

वाली नहीं है। हम सभी जगह संघर्ष ही संघर्ष देखते हैं; संसार पुराने तरीक़े से ही चल रहा है, शायद बदतर ही हो। यह हमें पुराकाल की उस कहानी की याद दिलाता है कि समुद्र-मन्थन से जो पहली चीज़ निकली वह विष था। अमृत सबके अन्त में आया। आज की क्रिया उसी के जैसी दीख रही है। भारत अपने उसी पुराने ढर्रे पर चल रहा है, पाकिस्तान को, मुसलमानों और रूस को तुष्ट करने में लगा है।

इज़राइल और अरब के बीच के युद्ध के सम्बन्ध में श्रीमाँ का दिया उत्तर मुझे बहुत अशुभसूचक लग रहा है। "यह वह संघर्ष नहीं है जो हमारी सभ्यता के भविष्य का निश्चय करेगा।" ('श्रीमातृवाणी' खण्ड १३, पृ. ४१७ से) क्या इसका यह अर्थ है कि इससे बड़ा कोई युद्ध होगा जिसमें हमारी वर्तमान सभ्यता नष्ट हो जायेगी हालाँकि विश्व बचा रहेगा? या फिर इसका यह मतलब है कि हो सकता है कि एकदम कोई युद्ध ही न हो और चेतना के स्वाभाविक क्रमविकास द्वारा हमारी सभ्यता के भाग्य का निर्णय हो जायेगा? लेकिन यह अन्तिम बात तो बहुत असम्भव ही लगती है, सिवाय इसके कि श्रीमाँ का पूरी तरह से रूपान्तरित भौतिक शरीर अगर सब जगह ऐसा अपूर्व-अद्‌भुत प्रभाव ले आये कि असामञ्जस्य का बने रहना असम्भव हो जाये तो अलग बात है।

मैं विशेष रूप से इस प्रश्न का उत्तर पाने की प्रार्थना कर रहा हूँ क्योंकि मेरे जैसे और कई यह सोचते हैं कि एक और युद्ध की सम्भावना है जो हमारी सभ्यता के भविष्य का निर्णय करेगा।

यह एकदम स्पष्ट दीखता है कि अगर अपनी समग्रता में रूपान्तर सिद्ध कर लिया जाये तो एक और महायुद्ध की आवश्यकता एकदम से ख़तम हो जायेगी।

लेकिन, कार्य के लिए जान-बूझकर भविष्य को उद्‌घाटित नहीं किया गया है। इसलिए तुम्हारे सवाल का जवाब नहीं दिया जा सकता। अतः, प्रत्येक के लिए सबसे अधिक बुद्धिमानी की बात यह होगी कि वह अपने-आपको उस शक्ति की ओर भरसक खोलता रहे जो अभिव्यक्त होने के लिए दबाव डाल रही है, और एक उत्कट अभीप्सा तथा निष्कम्प श्रद्धा को हमेशा बनाये रखे... और परिणाम के लिए धीरज के साथ प्रतीक्षा करे।

आशीर्वादों के साथ।

१९ जुलाई १९६७

हमें संगीत में किस चीज़ की आशा करनी चाहिये? संगीत के किसी हिस्से का मूल्यांकन कैसे करना चाहिये? (संगीत के लिए) सुरुचि कैसे पैदा करनी चाहिये? हलके-फुलके संगीत (फ़िल्मों का, जैज़ (Jazz) इत्यादि) के बारे में आपकी क्या राय है जिसे हमारे बच्चे बहुत पसन्द करते हैं?

संगीत की भूमिका होती है कि आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक उठाने में वह चेतना की मदद करे।

वह सब जो चेतना को नीचे गिराता, कामनाओं को प्रोत्साहित करता और आवेशों को उत्तेजित करता है, वह संगीत के सच्चे लक्ष्य के विरुद्ध होता है और उससे हमेशा बचना चाहिये।

इसकी सचमुच कोई व्याख्या नहीं हो सकती, यह अन्तःप्रेरणा का प्रश्न है—और इसका मूल्यांकन केवल आध्यात्मिक चेतना ही आँक सकती है।

२२ जुलाई १९६७

मेरी मधुर माँ,

मैं बहुत आभारी होऊँगा यदि माँ 'स' से कह दें कि अगस्त दर्शन के बारे में माँ के ध्वन्यांकित वक्तव्य की टाइप की हुई एक प्रति मुझे दे सके। मैं फ़्रेंच से उसका अनुवाद आसानी से करा लूँगा।

मैंने 'स' से यह कहा है कि वह छापने के लिए नहीं है। 'स' उन सभी चीज़ों का लिखित ब्योरा रख रहा है जो मैं शरीर की साधना के बारे में उससे कहती हूँ, वही साधना मैं अभी कर रही हूँ। लेकिन उस विवरण को छापना नहीं है, कम-से-कम अभी के लिए तो नहीं, न उसका प्रचार-प्रसार ही करना है।

इस विवरण के उन हिस्सों को 'बुलेटिन' में छापा जा रहा है जो उपयोगी मालूम होते हैं। और उसका शीर्षक है—"Notes sur le chemin"—'पथ पर'।

आशीर्वाद।

१२ सितम्बर १९६७

श्रीमाँ की शरण में जाना

श्रीमाँ श्रीअरविन्द की शिष्या नहीं हैं।[१] उन्हें मेरे समान ही सिद्धि और अनुभूति प्राप्त थी।

श्रीमाँ की साधना छोटी उम्र से ही आरम्भ हो गयी थी। जब वे १२ या १३ वर्ष की थीं तब प्रत्येक सन्ध्या अनेक गुरु उन्हें विविध आध्यात्मिक साधना सिखाने के लिए आते। उनमें से एक साँवली एशियाई आकृति थी। जब हम पहले-पहल मिले, तब उन्होंने तुरन्त साँवली एशियाई आकृति के रूप में मुझे पहचान लिया जिसे वे बहुत पहले देखा करती थीं। श्रीमाँ यहाँ आयें और एक समान लक्ष्य के लिए मेरे साथ कार्य करें, यह मानों एक भागवत विधान था।

भारत आने के पहले ही श्रीमाँ बौद्ध योग और गीता-योग में सिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं। उनका योग एक भव्य समन्वय की ओर बढ़ रहा था। उसके बाद यह स्वाभाविक था कि वे यहाँ आयें। मेरे योग को ठोस रूप देने में उन्होंने सहायता की है और निरन्तर कर रही हैं। उनके सहयोग के बिना यह सम्भव नहीं हो पाता।

इस योग के दो बड़े चरणों में से एक है, श्रीमाँ की शरण में जाना।[२]

१७ अगस्त १९४१ CWSA खण्ड ३२, पृ. ३६

एक बार जब व्यक्ति योगमार्ग में प्रवेश कर जाता है तब उसे केवल एक ही चीज़ करनी होती है—उसे दृढ़ता के साथ यह निश्चय करना होता है कि चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, चाहे जो भी कठिनाइयाँ क्यों न उठ खड़ी हों, मैं अन्त तक अवश्य जाऊँगा। सच पूछा जाये तो कोई भी मनुष्य अपने निजी सामर्थ्य के द्वारा योग में सिद्धि नहीं प्राप्त करता—सिद्धि तो उस महत्तर शक्ति के द्वारा आती है जो तुम्हारे ऊपर आसीन है—और समस्त उतार-चढ़ावों में से गुज़रते हुए, लगातार उस शक्ति को पुकारते रहने से ही वह सिद्धि आती है। उस समय भी, जब कि तुम सक्रिय रूप से अभीप्सा नहीं कर सकते, सहायता के लिए श्रीमाँ की ओर मुड़े रहो—यही एकमात्र चीज़ है जिसे सर्वदा करना चाहिये।

३ जनवरी १९३४ CWSA खण्ड ३२, पृ. २९४

[१] श्रीअरविन्द ने यह पत्र किसी के द्वारा लिखवाया था और इसमें वे अपने-आपको तृतीय पुरुष के रूप में सम्बोधित कर रहे हैं। —सं.

[२] बाद में जब एक बार श्रीअरविन्द से पूछा गया कि दूसरा पग कौन-सा है तो उन्होंने उत्तर दिया, "भागवत जीवन के लिए साधक की अभीप्सा।" —सं.

२१ मार्च १९५६ का वार्तालाप

मधुर माँ, यहाँ लिखा है : "किसी भी समय ज्ञान के लिए एक आधारभूत अनुभूति आवश्यक है, वह यह कि हम भगवान् को उनकी सारभूत सत्ता और सत्य में अनुभव करें...।" *(श्रीअरविन्द, 'योग-समन्वय')*

मनुष्य भगवान् को कैसे जान सकता है?

भगवान् ही बन कर, मेरे बच्चे। और यही है एकमात्र पथ : तादात्म्य के द्वारा। जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं : "हम भगवान् को जानते हैं और भगवान् ही बन जाते हैं, क्योंकि हम अपने गुह्य रूप में पहले से ही 'वह' हैं।" चूँकि भगवान् हमारी सत्ता के एकमात्र सारतत्त्व हैं, इसीलिए हम भगवान् बन सकते हैं और परिणामस्वरूप, 'उन्हें' जान सकते हैं; अन्यथा 'उन्हें' जानना बिलकुल असम्भव होता।

हम अपने अन्दर भगवान् को कैसे पा सकते हैं?

अरे, अभी-अभी मैंने ठीक यही बात तो कही है।

तुम ठीक-ठीक क्या कहना चाहते हो?... किस पद्धति से?

सबसे पहले, तुम्हें भगवान् को खोजना आरम्भ करना होगा और फिर वही तुम्हारे जीवन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिये। तुम्हारा संकल्प अटूट होना चाहिये, तुम्हारी अभीप्सा सतत और तुम्हारी लगन अविच्छिन्न होनी चाहिये तथा एकमात्र वही चीज़ होनी चाहिये जिसे तुम सचमुच चाहते हो। फिर तुम 'उन्हें' अवश्य पाओगे।

पर निस्सन्देह, यदि तुम अपने जीवन में पाँच मिनट तो 'उनकी' बात सोचो और पैंतालीस मिनट दूसरी चीज़ों में व्यस्त रहो तो फिर सफलता की अधिक सम्भावना नहीं है। जो हो, इसमें बहुत-से जन्म लग जायेंगे।

यह कोई मनबहलाव की चीज़ नहीं होनी चाहिये। यह कार्य हमारी सत्ता का एकमात्र कार्य होना चाहिये, हमारे जीवन का एकमात्र कारण होना चाहिये।

इतना पर्याप्त है न?

प्रिय माँ, हम लोगों को कोई बात सुनाइये, क्योंकि हमारे पास कोई प्रश्न नहीं है।

कोई बात क्यों सुनाइये?

मैं यह कह सकती हूँ कि अत्यन्त मूल्यवान् उपहार नीरवता में दिये जाते हैं। *(ध्यान)*

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ११५-१६

नवीन तथा बेहतर जगत्

मैं जानता हूँ कि यह तुम्हारे तथा हर एक के लिए विक्षोभ का समय है। सारे संसार के लिए अभी ऐसा ही है; अस्त-व्यस्तता, संकट, अव्यवस्था और गड़बड़ ही चारों तरफ़ दिखायी दे रही हैं। बेहतर चीज़ें जो आने वाली हैं वे परदे के पीछे तैयार या विकसित हो रही हैं और सबसे बुरी चीज़ें हर जगह घर बसाये दीख रही हैं।

*

मुझे भय है कि तुम जो अपनी चिट्ठियों में उन लोगों की दु:खद अवस्था का वर्णन कर रहे हो जो आज की दुनिया की परिस्थिति देख कर विलाप कर रहे हैं, उन्हें मैं कोई दिलासा नहीं दे पाऊँगा। चीज़ें बुरी **हैं**, बदतर हो रही हैं, और किसी भी समय, अगर ऐसा सम्भव हो तो बुरी-से-बुरी, एकदम से बुरी हो सकती हैं—और वर्तमान विक्षुब्ध जगत् में ऐसा लगता है कि कोई भी विरोधाभास—वह कैसा भी क्यों न हो—सम्भव है। सबके लिए अभी सबसे अच्छी चीज़ है यह जानना कि यह सब ज़रूरी था क्योंकि कुछ सम्भावनाओं को उभरना ही था और अगर एक नये और बेहतर जगत् को आना ही है तो इन सब विरोधों का सामना करना आवश्यक है, इन सम्भावनाओं को बाद के लिए टाला नहीं जा सकता। यह योग की तरह है जिसमें सत्ता में स्थित सक्रिय या निष्क्रिय चीज़ों को प्रकाश के सम्मुख लाना ही होता है ताकि विरोधियों को धर पकड़ कर बाहर फेंका जा सके, अतल गहराइयों से जगा कर शुद्ध और पवित्र बनाया जा सके। और वे लोग वह कहावत भी याद रख सकते हैं कि उषा के पहले का अन्धकार सबसे घना होता है और यह भी कि उषा का आना अवश्यम्भावी है। लेकिन उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि जिस नये जगत् के आगमन की हम बाट जोह रहे हैं उसकी बनावट इस पुराने जगत् के जैसी नहीं होगी या वह केवल अपनी बानगी या प्रतिरूप में ही भिन्न नहीं होगा, बल्कि उसे किसी दूसरे तरीक़े से ही प्रकट होना होगा, बाहर से नहीं बल्कि अन्दर से बाहर आना होगा—तो सबसे अच्छा तरीक़ा है कि बाहर घट रही शोचनीय चीज़ों में तल्लीन न रह कर व्यक्ति को अपने साथ लगे रहना चाहिये, यानी अपने अन्दर विकसित होना चाहिये ताकि वह नवीन जगत् के लिए प्रस्तुत हो सके, वह जगत् चाहे जैसा रूप लेकर क्यों न प्रकट हो।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ६९१ **श्रीअरविन्द**

एक तीव्र अभीप्सा

क्या हम अपनी नियति चुन सकते हैं या हमें चुना जाता है?

इस बाहरी सत्ता को अगर अपने-आप पर छोड़ दिया जाये तो यह बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं होती। यह बहुधा प्रकृति की शक्तियों का खिलौना होती है। लेकिन आन्तरिक या उच्चतर सत्ता, अधिक गहरी चेतना हमारी नियति की स्वामिनी और निर्मातृ होती है। इसलिए इस परम चेतना को खोजना और उसके साथ एक होना इतना ज़रूरी है ताकि जीवन की सब प्रकार की असंगतियों और प्रकृति के सभी संघर्षों का अन्त लाया जा सके।

(आश्रम के एक दर्शक को यह लिखित उत्तर देने के बाद श्रीमाँ ने कहा, "यह मज़ेदार प्रश्न है" और फिर यह टिप्पणी की:)

आरम्भ करने के लिए यह बस पहला छोटा-सा संकेत है। एक बार तुम आरम्भ कर दो तो वस्तुएँ अपना मार्ग बना लेती हैं और तुम अधिकाधिक अच्छी तरह समझते जाते हो। यह आरम्भ-बिन्दु है।

हमारे ऊपर जो कुछ है उसका अन्तःप्रकाश हम तक कैसे आता है?

ओह! हर व्यक्ति के लिए यह अलग होता है—हर एक के लिए। एक ही चीज़ दो बार नहीं होती। सामान्यतः यह तब होता है जब तुम कोई आशा नहीं करते और अधिक-से-अधिक... जब तुम अपने तथाकथित ज्ञान, अपनी निश्चिति और लगभग सारी आशा समर्पित कर देते हो, तब तुम उस स्थिति में होते हो जिसमें तुम उस उपलब्धि को पा सकते हो जो हमेशा उपस्थित होती है। यह हमेशा होती है, यह तो हम ही उसे ग्रहण नहीं करते। ज्ञान हमेशा उपस्थित होता है। प्रकाश हमेशा उपस्थित होता है, हमेशा, मानों वह ग्रहण किये जाने के लिए तैयार, हर चीज़ के ऊपर उतराता रहता है। हम जो मानते हैं कि हम जानते हैं और हम जो करना चाहते हैं उससे इतने अन्धे हो जाते हैं कि हम उसे ग्रहण नहीं कर पाते। लेकिन जब हम किसी-न-किसी कारण, समर्पण करते हैं यानी जब ज़रा निश्चेष्ट हो जाते हैं और खुलते हैं तब हम उसे ग्रहण कर लेते हैं।

हाँ, एक सक्रिय उपाय भी है। सक्रिय उपाय है, तीव्र अभीप्सा; यह एक आवश्यकता, अनिवार्य आवश्यकता है। तब कुछ चीज़ खुलती है और हम ग्रहण करते हैं। हम कुछ ऐसा संस्कार देने के लिए बाधित होते हैं कि वह हमारे ऊपर है, क्योंकि हम सत्ता के इस भाग से

उसको ग्रहण करते हैं *(माँ अपना हाथ सिर के ऊपर रखती हैं)।* यह यहाँ है। यहाँ है—एक ऐसी चीज़ के साथ सम्पर्क जोड़ने की क्षमता जो शुद्ध मानवीय नहीं है।

तुम्हें उसके लिए बहुत बड़ी आवश्यकता अनुभव करनी चाहिये। यह अनुभव करना चाहिये कि हमारे जीवन का प्रयोजन यही है कि मानवजाति का अस्तित्व इसीलिए है ताकि यह अन्तःप्रकाश रूप ले सके। जगत् में मानवजाति मानसिक उपलब्धि है और मन के अस्तित्व का प्रयोजन है रूपायित करना, प्रकट करना, एक बौद्धिक मूर्तरूप देना। तो अगर हम यह अनुभव करें कि हम इस चीज़ को प्रकट करना चाहते हैं, तब हम उसे ग्रहण करने के लिए तैयार होते हैं—जब हमें वास्तव में यह जानने की ज़रूरत होती है कि हम क्यों जीते हैं, मनुष्यों का अस्तित्व क्यों है, क्यों? और साथ ही अपनी अपूर्णता की अनुभूति, यह कि हम जो हैं उसके अतिरिक्त भी कुछ हैं और उससे भी बढ़ कर, हम जितना जानते हैं उसके ऊपर भी कुछ है, कोई और चीज़ है जिसे पाना और अभिव्यक्त करना है। तब मनुष्य अभीप्सा करता है या वह उत्कण्ठित होता है, वह अनुभव करता है कि उसके लिए जानना ज़रूरी है। तब वह तैयार होता है। लेकिन पथ अनगिनत हैं। हर एक के लिए रास्ता अलग है। पर हर एक के लिए चीज़ एक ही है : यह भावना कि हम जो कुछ हैं उससे भिन्न कुछ है। हम जो कुछ जानते और कर सकते हैं उसके सिवा भी कुछ है। कोई ऐसी चीज़ है जो हमसे परे, आगे, बहुत आगे है। तब, यह है वह अवस्था जो ज़रूरी है।

तुम जा रहे हो। तुम याद रखोगे।

(जब दर्शक कमरे से चला गया तो माँ ने जोड़ा :)

हाँ, वह लौट कर आयेगा। जो यह जानना चाहते हैं, जिन्हें इसकी आवश्यकता का अनुभव होता है वे हमेशा लौट कर आते हैं। यहाँ भारत में, और शायद विशेष रूप से यहाँ हम उसी में साँस ले रहे हैं। हम जब-जब साँस लेते हैं, वह अपने-आप हमारे अन्दर प्रवेश करता है। हवा इससे भरी है। शायद इसीलिए जो और कहीं मुश्किल है वह यहाँ सरल हो जाता है।

१७ मार्च १९६८ **श्रीमाँ**

साधना में कठिनाइयाँ

साधना के लिए सबसे ख़राब चीज़ है विचार-मालिन्य की अवस्था में पहुँच जाना, हमेशा "निम्न शक्तियों व आक्रमणों इत्यादि" के विषय में सोचना। यदि कुछ समय के लिए साधना रुक गयी है, तो उसे रुक जाने दो, शान्त रहो, साधारण चीज़ें करो, जब आराम ज़रूरी हो तो आराम करो—तब तक प्रतीक्षा करो जब तक कि भौतिक चेतना तैयार न हो जाये। मेरी अपनी साधना भी, जो कि तुम्हारी अपेक्षा कहीं अधिक आगे की अवस्था में थी, रुक जाया करती थी, लगातार आधे साल तक के लिए भी। मैंने उसे लेकर कोई शिकायत नहीं की, बल्कि जब तक यह ख़ालीपन या मन्द गति की अवस्था पार न हो जाती, शान्त रहता।

८ मार्च १९३५

*

तामसिक जड़ता, भौतिक दुर्बलता, अवचेतना की अन्तहीन पुनरावृत्तियों ने मेरी साधना को फिर से ढक दिया है और ऐसी अस्तव्यस्तता पैदा कर दी है कि मुझे मालूम नहीं कि मैं ख़ुद को इससे कैसे बाहर निकालूँ।

'अवतरण' का आवाहन करके, क्योंकि अभी 'आरोहण' असम्भव है। कम-से-कम अपने मामले में मैंने परिस्थिति को इसी तरह सम्भाला।

५ अक्तूबर १९३५

*

मैं सोचता हूँ कि साधना स्वयं अपने-आप आगे जाना स्वीकार नहीं करती। यह तो हमारी सत्ता का ही कोई अंग है जो साधना की प्रक्रिया का निर्धारण करता है।

यदि ऐसी बात है तो साधक को अपनी शक्ति के अलावा किसी और शक्ति की आवश्यकता ही नहीं होगी। मेरा अपना अनुभव भिन्न है, वह यह है कि सिवाय कुछ विशेष परिस्थितियों के, प्रायः ही साधना आगे बढ़ना अस्वीकार करती है अथवा जब तक वे परिस्थितियाँ बन नहीं जातीं, वह आगे नहीं बढ़ती। लेकिन तुम्हारी परिस्थिति भिन्न हो सकती है।

१६ नवम्बर १९३५

*

न कोई उल्लास, न ऊर्जा। न ही पढ़ने-लिखने को मन करता है—मानो मृत व्यक्ति चल-फिर रहा हो। क्या आप इस दशा को समझ पा रहे हैं? आपकी कोई व्यक्तिगत अनुभूति?

मैं पूरी तरह समझ रहा हूँ, अक्सर ही मुझे यह अनुभूति भयानक रूप से होती थी। इसीलिए जिन लोगों को यह होती है, मैं यह सलाह देता हूँ कि प्रसन्न रहो और उत्साह से भर उठो।

चूँकि व्यक्ति को अपना समय किसी तरह तो काटना ही है, उसे क्या करना चाहिये? किसी "पुनरुत्थान" की आशा करते हुए, अन्धकार व निराशा से भरे हुए अपने कन्धों पर क्रॉस को ढोना?

ख़ुश रहो और उत्साह से भरे रहो और बाक़ी के लिए यदि कर सको तो यह कहते रहो कि "रोम एक दिन में नहीं बन गया था"—अगर तुम यह न कर सको तो जब तक सूर्योदय न हो, नन्हें पक्षी चहचहाने न लगें, सब ठीक न हो जाये, इस अन्धकार को मिट जाने दो।

फिर भी ऐसा लगता है कि तुम वैराग्य के प्रशिक्षण में से गुज़र रहे हो। मैं स्वयं वैराग्य की अधिक चिन्ता नहीं करता—हमेशा इस भयानक चीज़ से बचता रहा, लेकिन अंशतः इसमें से गुज़रना ही पड़ा, जब तक कि मैंने एक अधिक अच्छे उपाय के तौर पर समता को प्राप्त नहीं कर लिया। किन्तु समता कठिन है, वैराग्य सरल है, बस, यह बहुत ही अधिक निरानन्द लाने वाला और असुविधाजनक है।

३ जून १९३६

*

बिना कोई ग़लती किये अचानक गिर जाना—इस प्रकार की बाधा क्यों?

प्रत्येक व्यक्ति गिरता है। साधना के दौरान मैं ख़ुद हज़ारों बार गिरा हूँ। कैसे फूलों-सी नाज़ुक राजकुमारी जैसे साधक हो तुम सब!

CWSA खण्ड ३५, पृ. ३७२-७४ २ अप्रैल १९३७

*

साधना के पथ पर निराशा और अन्धकार के दौर परम्परा से चले आ रहे हैं—सभी योगों में, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य में, वे एक नियम की तरह ही प्रतीत होते हैं। मैं स्वयं उनके सम्बन्ध में सब कुछ जानता हूँ—लेकिन मेरी अनुभूति ने मुझे इस दृष्टिकोण पर पहुँचा दिया है कि वे अनावश्यक परम्पराएँ हैं और यदि व्यक्ति चाहे तो उन्हें छोड़ सकता है। यही कारण है कि जब कभी वे तुम्हारे या दूसरों के अन्दर आते हैं, तो मैं उनके समक्ष श्रद्धा एवं विश्वास के सन्देश को पुनः जगाने का प्रयत्न करता हूँ। उसके बाद भी यदि वे आयें तो व्यक्ति को यथाशीघ्र उन्हें पार करके पुनः सूर्य के प्रकाश में आ जाना चाहिये।

CWSA खण्ड ३५, पृ. ३७६ ९ अप्रैल १९३०

शरीर की चेतना का रूपान्तरण

एक बात काफ़ी ध्यान देने-योग्य है : भौतिक चेतना, अर्थात्, शारीरिक चेतना किसी भी वस्तु को यथार्थ रूप में उसकी समस्त बारीकियों-सहित तब तक नहीं जान सकती जब तक कि वह बस, चरितार्थ होने की *तैयारी* में *न* हो। उदाहरणार्थ, यह इस बात का एक निश्चित संकेत होगा जब व्यक्ति इस प्रक्रिया को समझ सकेगा : क्रियाओं और रूपान्तरों के किस अनुक्रम से पूर्ण रूपान्तर साधित होगा? अर्थात्, किस क्रम से, किस विधि से? पहले क्या होगा? बाद में क्या होगा?—ये सब, पूरे ब्योरे में। ऐसे प्रत्येक समय जब तुम एक छोटी-सी बारीकी को यथार्थ रूप में देख लोगे तो इसका अर्थ यह होगा कि वह चरितार्थ होने वाली है।

व्यक्ति समग्र की झलक पा सकता है। उदाहरणार्थ, यह बिलकुल निश्चित है कि शारीरिक चेतना का रूपान्तर सबसे पहले होगा, इसके बाद आयेगी शरीर की सभी क्रियाओं पर स्वामित्व एवं नियन्त्रण में प्रगति, और बाद में यह स्वामित्व धीरे-धीरे बदलेगा (यहाँ यह अधिक अस्पष्ट हो जाता है), हाँ, धीरे-धीरे यह स्वयं क्रिया के रूपान्तर का रूप धारण कर लेगा : परिवर्तन और रूपान्तर—यह सब निश्चित है। किन्तु अन्त में क्या होगा, इसके विषय में श्रीअरविन्द ने अपने अन्तिम लेखों में से एक में लिखा है, जिसमें वे कहते हैं कि अवयवों का भी रूपान्तर हो जायेगा, इस अर्थ में कि उनका स्थान शक्तियों की एकाग्रता के केन्द्र ले लेंगे (शक्तियों की एकाग्रता के और उनकी क्रिया के केन्द्र), ये शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की और विभिन्न गुणोंवाली होंगी और शरीर के समस्त अवयवों और इन्द्रियों का स्थान ले लेंगी—पर, मेरे बच्चो, यह सब बहुत दूर की बात है, दूसरे शब्दों में, यह ऐसी चीज़ है जो... यह कार्य कैसे साधित होगा, इसे भी व्यक्ति अभी नहीं जान सकता। अभी तक इसे करने के उपाय हमारी पकड़ में नहीं आये। उदाहरण के लिए, हृदय को लो : हृदय की यह क्रिया जो सारे शरीर में रक्त-सञ्चार करती है, किस तरह शक्तियों के केन्द्रीकरण से बदली जायेगी? रक्त और बाक़ी सब का स्थान, शक्ति-विशेष किस तरह, किस उपाय से लेगी? किन उपायों से फेफड़ों का स्थान, शक्तियों का कोई और केन्द्रीकरण लेगा, और कौन-सी शक्तियों से, किन स्पन्दनों द्वारा और किस तरह?... यह सब बहुत बाद में आयेगा। अभी यह कार्य चरितार्थ नहीं हो सकता। इसकी एक झलक-भर मिल सकती है, कुछ पूर्वाभास मिल सकता है, किन्तु...।

शरीर के लिए, जानने का अर्थ है उसे करने की शक्ति प्राप्त करना। मैं तुम्हें एक जाना-पहचाना उदाहरण देती हूँ। तुम जिम्नास्टिक की किसी गति को तब तक नहीं जान सकते जब तक उसे कर न लो। जब तुम उसे भली-भाँति कर लेते हो तभी उसे जान और समझ सकते हो, इससे पहले नहीं, है न? किसी वस्तु को भौतिक रूप से जान लेने का अर्थ है कि तुम्हारे अन्दर उसे करने की शक्ति है। हाँ, तो यह बात सभी वस्तुओं पर लागू होती है, रूपान्तर पर भी।

यह कार्य कैसे होगा इस विषय पर हम ज्ञानपूर्वक कुछ वर्षों के बीतने पर ही कह सकेंगे,

किन्तु अभी मैं तुम्हें इतना ही बता सकती हूँ कि यह आरम्भ हो चुका है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १२५-२६

भौतिक उद्घाटन क्या है?

जब भौतिक शरीर दिव्य प्रभाव के प्रति खुलता है और दिव्य शक्तियों को ग्रहण करता है।

उदाहरण के लिए, एक ऐसा मुहूर्त होता है जब दिव्य शक्तियाँ आकर सभी कोषाणुओं में प्रवेश करती हैं। आरम्भ में, भौतिक चेतना, शारीरिक चेतना पहले भागवत प्रभाव की ओर खुलती है और समझती है और उसके सिवाय और कुछ नहीं चाहती, वह चाहती है भागवत 'उपस्थिति', भागवत प्रभाव। शरीर के अपने संवेदन होते हैं, शरीर के कोषाणु तक शक्ति को ग्रहण करने के लिए खुल सकते हैं। उदाहरण के लिए, जब किसी विशेष मुहूर्त में सारे शरीर में बहुत तीव्र स्पन्दन फैलते हुए लगें, उस समय तुम्हें लगे कि तुम बल से, असाधारण शक्ति से और चेतना से भर गये हो, सभी चीज़ें स्पष्ट और बोधगम्य लगें तो यह शरीर का उद्घाट न है; तब शरीर जानता है और दिव्य प्रभाव की ओर खुलने में सफल हो जाता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४३८-३९

मधुर माँ, क्या अभीप्सा के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, जैसे मानसिक अभीप्सा या प्राणिक अभीप्सा?

हाँ, सत्ता के हर भाग की अपनी अभीप्सा होती है जिसकी प्रकृति अभीप्सा करने वाले भाग-जैसी होती है। एक भौतिक अभीप्सा भी होती है; शरीर... शरीर के कोषाणु समझते हैं कि रूपान्तर क्या होगा, और अपने पूरे बल के साथ, उनके अन्दर जितनी चेतना है उसके साथ वे इस रूपान्तर के लिए अभीप्सा करते हैं। इस भाँति, शरीर के कोषाणु तक—केन्द्रीय संकल्प, विचार या भाव नहीं—स्वयं शरीर के कोषाणु, इस तरह भागवत शक्ति पाने के लिए खुलते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४४२

अब कोई शरीर न था, अब कोई संवेदन न बचा था; था केवल एक प्रकाश-स्तम्भ जो वहाँ से उठ रहा था जहाँ सामान्यतः शरीर का आधार होता है और वहाँ जा रहा था जहाँ साधारणतः सिर होता है। वहाँ चन्द्रमा के मण्डल-जैसा एक प्रकाश-चक्र था; फिर वहाँ से स्तम्भ ऊपर, बहुत दूर सिर के ऊपर उठता गया जो एक विशाल चौंधियाने वाले बहुरंगी सूर्य में खुलता गया जहाँ से स्वर्णिम प्रकाश की वर्षा होने लगी जिसने सारी पृथ्वी को ढक लिया।

तब धीरे-धीरे प्रकाश-स्तम्भ फिर नीचे उतरा जहाँ उसने एक जीवित प्रकाश का अण्डाकार बनाया जिसने हर एक को विशेष प्रकार से, एक विशिष्ट स्पन्दनशील पद्धति से जगाना और

गतिशील बनाना शुरू किया—ये केन्द्र थे; सिर के ऊपर, सिर में, कण्ठ में, हृदय में, नाभि में, मूलाधार में और उससे भी अधिक नीचे। घुटनों के स्तर पर, चढ़ती और उतरती धाराएँ मिल गयीं और इस प्रकार सञ्चार बिना किसी बाधा के चलता रहा जो समस्त सत्ता को जीवित प्रकाश के एक विशाल अण्डाकार से ढकता गया।

फिर धीरे-धीरे चेतना क्रमशः नीचे उतर आयी, हर लोक में वह तब तक रुकती गयी जब तक कि शारीरिक चेतना लौट नहीं आयी। यदि मेरी स्मृति ठीक है तो शारीरिक चेतना का लौटना नवीं अवस्था थी। उस समय तक शरीर बिलकुल कठोर और निश्चल था।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. १२०-२१

श्रीअरविन्द के उत्तर

(८७)

मैं अपने अन्दर के प्रतिरोध की प्रकृति को नहीं समझ पाता। क्या यह कोई ऐसी चीज़ है जो पीछे चल रही है या फिर सचमुच बाहर अभिव्यक्त हो रही है, जैसे यहाँ से चले जाने के भाव का आना, सेक्स-क्रियाओं और हस्त-मैथुन की इच्छा रखना या काम के समय पढ़ना? लेकिन ऐसा तो दो सालों से चल रहा है। क्या मैं इंच-भर भी आगे नहीं बढ़ रहा, बस नीचे ही नीचे उतरता जा रहा हूँ? मुझे पता नहीं कि एकदम से हताश कर देने वाले ऐसे-ऐसे रहस्योद्घाटनों के बाद मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ?

प्रतिरोध बाहरी सत्ता से है जो चेतना को अन्दर जाने और वहाँ अपना स्थान लेने से रोकती है। सेक्स-क्रियाएँ इत्यादि केवल बाहरी बाधाएँ हैं जो बाह्य कामनाओं की सन्तुष्टि के प्रति बढ़ने में इस प्रतिरोध की सहायता करती हैं। वास्तव में हो यह रहा है कि शान्ति इत्यादि उच्चतर केन्द्रों (सिर के ऊपरी हिस्से और हृदय) पर दबाव डाल रही हैं ताकि वे स्वयं को आन्तरिक सत्ता में प्रतिष्ठित कर लें—और वहाँ आन्तरिक चेतना का एक घेरा रच दें और फिर उसे प्राण और भौतिक में नीचे उतार लायें। एकाग्रता द्वारा तुम्हें इसी सबको उतारने में सहायता करनी चाहिये। सेक्स में रम जाने और दूसरी कठिनाइयों से घिरे रहने से आवश्यक एकाग्रता में बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं; अब तुम्हारा ध्यान अधिक सकारात्मक पहलू पर होना चाहिये।

क्या कभी-कभी कुछ चीज़ों को अपने अन्दर दबाये रखने और पनपने देने से कहीं अधिक अच्छा नहीं है कि उन्हें वाणी में, लेखन में या क्रिया में प्रकट

कर दिया जाये? उदाहरण के लिए, कुछ लोग जो अमुक व्यक्तियों से द्वेष रखते हैं, उनकी पीठ पीछे बुराइयों का पुलिन्दा खोलते रहते हैं, लेकिन बाहर उसे कभी-कदास ही प्रकट करते हैं, जैसा कि मैं तब करता हूँ जब मेरे अन्दर कोई ग़लत या सही भावावेग उमड़ता है। बहुत बार, जब लोग नाराज़ होते हैं तो वे उसे नीचे दबाने की कोशिश करते हैं, उसे अभिव्यक्त होने की अनुमति नहीं देते—जैसा कि दुनिया का कोई भी कूटनीतिज्ञ (डिप्लोमैट) करता है। अब मेरा मत यह है कि ईर्ष्या तथा दुर्भावना को बहुत समय तक दबाये रखने की जगह इन्हें, यहाँ तक कि भौतिक हिंसा तक में पूरी तरह अभिव्यक्त कर देना चाहिये। यह नाटकीय हो सकता है, लेकिन फिर व्यक्ति दुर्भावना तथा दुर्व्यवहार की भावना से मुक्त हो जाता है। सेक्स के बारे में भी यही बात है, उसे एकदम कुचल देने या पृष्ठभूमि में फेंक देने या पतली गली से निकलने की कोशिश करने या किसी सूक्ष्म रूप में इसे बनाये रखने की बजाय व्यक्ति को इसे कुछ खुल खेलने देना चाहिये, और दो-तीन विक्षोभकारी घटनाओं के बाद यह अपने-आप बहुत कम हो जायेगा। और आख़िरकार, इन चीज़ों की कुछ बाहरी अभिव्यक्ति के बिना—अच्छे-अच्छे संयमियों के लिए भी—जीवन-यापन करना सम्भव है क्या?

तुम्हारा मत ग़लत है। किसी आवेश की अभिव्यक्ति प्राण को कुछ समय के लिए भले कुछ राहत-सी दे दे, लेकिन साथ ही वह उसे हमेशा वापस आने का अधिकार भी दे देती है, वह आवेश कम तो किसी भी मायने में नहीं होता। सूक्ष्म रूपों में अन्दर-ही-अन्दर उसका उपभोग करने की चाह रखना, लेकिन बाहर से उसे दबा रखने का दिखावा करना उसका उपचार एकदम नहीं है, लेकिन बाहरी रूप से उसकी अभिव्यक्ति तो और भी कम उपचार है। अगर व्यक्ति पूरा-पूरा संयम पाने का दृढ़ निश्चय कर ले तो उसे अभिव्यक्त न होने देना पूरी तरह से सम्भव होता है, लेकिन यह संयम उसे मात्र अन्दर दबाना नहीं बल्कि बाहरी तथा आन्तरिक बहिष्कार होना चाहिये।

११ जून १९३५

आज जिस शान्ति और स्पष्टता का मैं अनुभव कर रहा हूँ वे मेरे अन्दर हमेशा क्यों नहीं बनी रहतीं भला? वह कौन-सी चीज़ है जो कुछ-कुछ दिनों के बाद, बार-बार ऊपर आकर मुझे विक्षुब्ध कर देती है, सब कुछ भुला देती है और मुझे फिर से सब कुछ नये सिरे से शुरू करना पड़ता है? अभी मेरा हाल यह है कि मैं किन्हीं भी विशेष प्राण-भौतिक कामनाओं या लालसाओं को अपने अन्दर नहीं देख रहा हूँ—पद या शक्ति अथवा सेक्स-उपभोग—किसी को भी नहीं देख रहा हूँ। अगर ये चीज़ें हों तो अपने-आपको दिखलायेंगी तो ज़रूर। भले मैं उसमें बहुत

आगे न भी बढ़ पाऊँ, फिर भी वह कोई ऐसी चीज़ तो होगी जिसमें मैं कम-से-कम एक स्थायी अवस्था में तो रह पाऊँगा। क्या ऊपर से आया हुआ दबाव इन विक्षुब्धताओं को लाता है?

यह ऊपर से आये किसी दबाव का परिणाम नहीं है। अगर ऊपर से कुछ नहीं आये, तो तुम्हारे अन्दर कोई शान्ति, स्पष्टता नहीं होंगी, और ये विक्षुब्धताएँ फिर भी आती, बार-बार आती रहेंगी।

ये ललक और लालसाएँ प्राण-भौतिक की चीज़ें हैं, लेकिन जब सत्ता के अन्दर पर्याप्त शान्ति होती है तो ये उसमें से बाहर निकल जाती हैं और प्राण-भौतिक मुक्त हो जाता है, तब वह अचञ्चलता के प्रभाव-तले आ जाता है। और विक्षोभ की शक्तियाँ व्यक्ति के अन्दर डेरा डाले नहीं रहतीं, लेकिन उनके बाहर निकल जाने के बावजूद वे कहीं वातावरण में मँडराती रहती हैं, और इस ताक में लगी रहती हैं कि ज़रा-सा दरवाज़ा खुले और वे अन्दर घुस आयें और फिर बाहरी सत्ता के कवच को या तो तोड़ दें, और अगर वे ऐसा न करे सकें तो, आन्तरिक शान्ति पर परदा डाल दें। चूँकि भौतिक-प्राण पहले कभी उनको प्रत्युत्तर देने के लिए ख़ुशी-ख़ुशी राज़ी हो जाया करता था, वह इस चीज़ का आदी था, लेकिन भले अब वह इस सबके लिए इच्छुक न हो, फिर भी इन शक्तियों में इतना दम होता है कि व्यक्ति इनके स्पन्दनों का प्रत्युत्तर दे दे। शान्ति तथा स्पष्टता को इतनी शक्ति जुटा लेनी चाहिये कि भले ये शक्तियाँ दोबारा धमक जायें, लेकिन वे टस-से-मस न होंगी—तब बाहरी सत्ता के सतह पर विक्षुब्ध होने के बावजूद, आन्तर सत्ता में एक ऐसी आन्तरिक शान्ति बनी रहेगी जो किसी भी चीज़ से परेशान न होगी। प्रगति में यह एक बड़ा क़दम उठाने वाली बात होती है, बाद में पर्याप्त रूप से शक्तिशाली एक ऐसी शक्ति को नीचे उतारा जा सकता है कि वह बाहरी सत्ता को भी इतनी प्रबल शान्ति और स्पष्टता से भर दे कि फिर परेशानियाँ वहाँ प्रवेश तक न कर पायें। व्यक्ति फिर भी कभी-कभी वातावरण में उन्हें अनुभव कर सकता है, लेकिन वह उनसे रत्ती-भर भी प्रभावित नहीं होता।

अब एक बार प्राण-भौतिक अचञ्चलता के प्रभाव-तले है। शान्ति ने उसे छोड़ा नहीं है, बल्कि वह तो क्रमशः बढ़ती जा रही है ताकि प्राण-भौतिक अधिकाधिक शान्ति के तले आ जाये। जब प्राण-भौतिक अचञ्चलता के प्रभाव के अधीन हो और अगर विक्षोभ की शक्तियाँ चली जायें तब कौन-सी चीज़ है जो बाद में, विक्षोभ को वापस ले आती है? इसकी तीन सम्भावनाएँ हैं :

१. शान्ति अपना प्रभाव हटा लेती है और प्राण को उजागर कर देती है।

२. स्वयं प्राण शान्ति को वहन करता है, या फिर वह केवल एक विशेष समय या एक विशेष कोटि तक उसे पसन्द करता है। उसके बाद प्राण उससे बाहर निकलने की कोशिश करता है या उससे थक जाता और कुछ और चीज़ चाहता है। अगर वह और कोई चीज़ चाहता है तो इसका यही मतलब होता है कि उसने

विक्षोभ की शक्तियों को खदेड़ बाहर नहीं निकाला है।

३. विक्षोभ की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं या फिर बीच-बीच में वे इस हद तक अपनी शक्ति पा लेती हैं कि अपने प्रभुत्व को दोबारा जमाने की कोशिश करती हैं। इन विक्षोभों के पुनः किसी भी तरह के दोबारा प्रकोप की ये बस सैद्धान्तिक सम्भावनाएँ हैं, पता नहीं, ऐसा सचमुच होता है या नहीं।

ये तीनों सम्भावनाएँ हैं और ऐसा होता भी है—हालाँकि पहली चीज़ तभी होती है जब व्यक्ति के अन्दर शान्ति की शक्ति इतने पर्याप्त रूप में प्रतिष्ठित नहीं होती कि पुरानी शक्तियों की वापसी के विरोध में अपने-आपको बनाये रख सके। जहाँ तक प्राण-भौतिक की बात है, विक्षोभकारी शक्तियों को फिर से आने की अनुमति देने के पीछे हमेशा यह तथ्य नहीं होता कि व्यक्ति उन्हें चाहता है, यह इस कारण भी हो सकता है कि उसके न चाहने के बावजूद, कुछ दबाव या टक्करें, या सुझाव पुराने स्पन्दनों को भड़का दें और उनके अन्दर उन्हें प्रत्युत्तर देने की आदत इतनी शक्तिशाली रही है कि **न चाहते हुए भी व्यक्ति** उन्हें प्रत्युत्तर दे दे और उस समय अपना सन्तुलन पुनः प्राप्त करने में अपने-आपको असमर्थ पाये। यह चीज़ सत्ता के सभी भागों में होती है, लेकिन भौतिक भागों के साथ विशेष रूप से घटित होती है—भौतिक मन का अभ्यासी विचारों की ओर झुकाव, भौतिक प्राण का अभ्यासी कामनाओं, आवेशों इत्यादि की तरफ़ रुजहान, शरीर का अभ्यासी संवेदनों, बीमारियों इत्यादि की तरफ़ मुड़ना इत्यादि चीज़ें होती ही रहती हैं। बहुत बार साधक लिखा करते हैं, "लेकिन मैं इन चीज़ों को नहीं चाहता, यहाँ तक कि मेरा प्राण और मेरा शरीर भी व्याकुल हो जाते हैं और चाहते हैं कि ये चीज़ें चली जायें, लेकिन ये आती क्यों हैं भला?" इसका कारण यही होता है कि व्यक्ति के अन्दर इन्हें प्रत्युत्तर देने की आदत इतनी गहरे धँसी हुई होती है कि वह अभी तक शान्त और निष्क्रिय इच्छा (अगर इसे इच्छा कहा जा सके) के लिए बहुत ज़्यादा प्रबल होती है कि वह इसे प्रभावित हिस्से से निकाल बाहर कर सके। भौतिक हिस्सों के लिए यह विशेष रूप से सच बात है क्योंकि भौतिक में एक निष्क्रिय शान्ति होती है, शक्तियों के द्वारा हाँके जाने का उसका स्वभाव होता है, हाँ, अगर उसे ऊपर से नियन्त्रित किया जाये या उच्चतर भागों के विचार और इच्छा से वह साझा कर सके तो अलग बात होती है।

१२ जून १९३५

क्या यह कुछ अजीब-सी बात नहीं है कि अन्दर शान्ति और अचञ्चलता हैं और साथ ही भौतिक वातावरण में शीतलता छायी हुई है। क्या हवा की ठण्डक ही आन्तरिक शीतलता और शान्ति नहीं लाती? या फिर मैं शरीर पर अनुभव की गयी हवा की ख़ुनकी को आन्तरिक अचञ्चलता और शान्ति समझने की भूल कर बैठता हूँ? या बाहरी और आन्तरिक दोनों ही शीतलताएँ एक ही स्रोत से आती हैं?

मेरी समझ में यह बात बिलकुल नहीं आती कि हवा की शीतलता को आन्तरिक अचञ्चलता और शान्ति मानने की भूल कोई कैसे कर सकता है? अगर तुम कहो कि हवा की ठण्डक शरीर को अधिक आरामदेह बना देती है इसलिए आन्तरिक शान्ति तथा अचञ्चलता का सुखद तरीक़े से अनुभव किया जा सकता है—तो यह सम्भव है। शान्ति तथा अचञ्चलता के साथ आयी हुई शीतलता का अनुभव करना जाना-माना तथ्य है और वातावरण भले गरमी से एकदम तप रहा हो, शरीर को गरमी से अलग करके उसे ठण्डा बनाया जा सकता है।

रात को मैं क़रीब दो बजे उठा, बाहर पटरी पर मैंने थोड़ी चहलक़दमी की, फिर श्रीमाँ के कमरे में बत्ती जलती देख मैं नलिनी के कमरे तक जा पहुँचा। फिर मैं लौट आया, कुछ मिनटों तक मैंने कुछ पढ़ा और फिर से सो गया। नींद तो नहीं के बराबर आयी, लेकिन मैंने एक सपना देखा कि कोई मेरी चादर खींच रहा था जो कुछ काले रंग की थी और रेशम और मखमल से बनी थी। मैंने उसे स्पष्ट रूप से खिंचता हुआ अनुभव किया। फिर मुझे लगा जैसे मैंने किसी को खिड़की के पास देखा। आधी नींद में मैंने शरीर को ऊपर उठाने की कोशिश की, लेकिन मैं कर न पाया। कुछ समय बाद मैं शरीर में वापस आ गया और न वहाँ कोई व्यक्ति था, न रेशम की चादर। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि आधी नींद में जब मैं इतने संकल्प के साथ अपने शरीर को ऊपर उठाने की कोशिश कर रहा था, मैं उठ क्यों न पाया? मुझे अपने अन्दर के डर की याद है और यह भी याद है कि मैं उठ कर उस व्यक्ति को एक मुक्का जमाना चाहता था! मेरे ख़याल से ऐसी अवस्था में लोग सपनों में चीखते-चिल्लाते हैं।

हाँ—वैसे कुछ लोग तो एकदम सामान्य सपनों में भी चीखते हैं। ऐसे सपनों में उठ न पाना एक आम बात होती है—क्योंकि स्वप्न-चेतना भौतिक चेतना के बहुत निकट होती है इसलिए वह उस पर क्रिया करने की कोशिश कर सकती है, लेकिन फिर भी उस पर हावी नहीं हो पाती।
१३ जून १९३५

मैंने फ़्रेंच में रोज़ निम्नलिखित चीज़ें पढ़ने की सोच ली है:
श्रीमाँ के वार्तालाप से एक पृष्ठ
अहन् के पाठ्यक्रम के अभ्यासों के एक या दो पृष्ठ
ह्यूगो के मुहावरों का एक पृष्ठ (१२ मुहावरे)
बाल्ज़ाक के उपन्यास के दो पृष्ठ—उसमें आये वाक्यों और मुहावरों का अध्ययन
कंक्रीट (Reinforced Concrete) के बारे में एक पृष्ठ
इसके अलावा, मैं शान्ति के साथ हफ़्ते में दो दिन भूगोल पढ़ रहा हूँ, बेंजामिन

जो गृहकार्य देता है उसे कर रहा हूँ, हफ़्ते में तीन घण्टे मुझे इसमें लगते हैं।

मैंने देखा कि काम के साथ-साथ, अतिरिक्त समय में मैं ये सभी चीज़ें कर सकता हूँ, और एक दिन के लिए यह सब काफ़ी है। इससे अधिक करने पर मेरा हाज़मा बिगड़ जायेगा और मैं पाठ याद भी नहीं रख पाऊँगा। लेकिन फिर भी काम के समय मेरे अन्दर पढ़ने की इतनी ललक क्यों रहती है भला? कॉलेज में मैं अमुक घण्टों के लिए कुछ विशेष चीज़ें पढ़ने का निश्चय कर तो लिया करता था, लेकिन फिर मैं अपने द्वारा निर्धारित समय-सारणी पर अमल कभी नहीं रह पाता था। एम.सी.सी. क्रिकेट मुझे अपनी ओर खींच ले जाता था। अब तो केवल कुछ ही चीज़ें पढ़ने की बात है, लेकिन उन्हें भी नियमित रूप से पढ़ना मेरे लिए दूभर हो रहा है। कितना बदलाव आ गया है मुझमें और अब पढ़ने का कितना लोभ जाग उठा है मेरे अन्दर!

मन पर जब पढ़ाई या अध्ययन का भूत सवार हो जाता है तो ऐसा ही होता है; व्यक्ति सारा समय इसी में बिताना चाहता है। यह एक शक्ति होती है जो स्वयं को सन्तुष्ट करना चाहती है—अन्य शक्तियों की भाँति—और अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए चेतना को अपने वश में कर लेती है। व्यक्ति को इनके चंगुल में फँसे बिना इन शक्तियों का उपयोग करना चाहिये; इसके लिए एक केन्द्रीय सत्ता होनी चाहिये जिसका 'प्रकृति' की उन शक्तियों पर हमेशा अधिकार हो जो उस तक आयें, और व्यक्ति ही निश्चय करे कि उसे किसको स्वीकार करना है, कैसे इस्तेमाल करना है और उन शक्तियों की क्रिया को कैसे व्यवस्थित करना है। वरना हर एक 'शक्ति' व्यक्तित्व के किसी हिस्से को (विद्यार्थी, सामाजिक मनुष्य, कामुक व्यक्ति, योद्धा—इनमें से किसी भी हिस्से को) पकड़ कर उसका इस्तेमाल करती और उसे हाँकती है, बनिस्बत इसके कि व्यक्ति उस शक्ति पर अपना प्रभुत्व जमाये रखे और उसका उपयोग करे।

अपने रिश्तेदारों की कैसी-कैसी बेकार-सी यादें मेरे अन्दर घुमड़ती रहती हैं? उनके साथ कोई चिट्ठी-पत्री नहीं, लेकिन कितनी ही बार उनकी यादें मुझ पर बाढ़-सी उमड़ पड़ती हैं! उनके साथ क्या होता है जो अपने परिवारवालों के साथ बाक़ायदा चिट्ठियों का सिलसिला बनाये रखते हैं? क्या उन्हें छितराव का अनुभव नहीं होता? या फिर वे इस तरह श्रीमाँ के लिए कोई लाभप्रद कार्य कर रहे हैं? पत्राचार तथा अन्य चीज़ें करने के बावजूद कुछ लोग कितने मज़बूत हैं! मेरे ख़याल से उनका पत्राचार उनके मन में यहाँ के साधकों और बाहर के लोगों के बीच एक तरह का तुलनात्मक भाव बनाये रखता है। कम-से-कम, अगर मुझे ठीक से याद है, जब मैं अपने लोगों से चिट्ठी-पत्री किया करता था, तब मेरे अन्दर यहाँ से चले जाने का आवेश या विचार न के बराबर उठता था।

मेरे विचार से यह चीज़ अलग-अलग स्वभाववालों में अलग-अलग तरीक़े से क्रिया करती है। कुछ लोग बिना लिखे बहुत लाभान्वित होते हैं; कुछ समय बाद अपने पुराने जीवन से उनके सभी सम्पर्क कट जाते हैं। कुछ और हैं जो अपने रिश्तेदारों, पुराने स्थानों और दृश्यों, पुराने चेहरों इत्यादि के बारे में सोचते ही रहते हैं; दूसरों को आधी रात तक इन्हीं चीज़ों के सपने आते रहते हैं, जब कि दिन के समय वे उनके बारे में कभी सोचते तक नहीं। ख़ुद मैंने अपने-आपको (बहुत पहले की बात नहीं है) गायकवाड़ के बारे में सपने लेते हुए देखा और अब भी कभी-कभी बारीन (श्रीअरविन्द के भाई) एकदम अप्रत्याशित रूप में मेरे सपने में प्रकट हो जाता है। अवचेतना के संस्कार बहुत धीमे-धीमे धुँधले पड़ते हैं। लेकिन बहरहाल, मेरे ख़याल से उन्हें दोबारा ताज़ा करना सहायक नहीं होता। जिन लोगों की तुम चर्चा कर रहे हो उनकी मज़बूती के बारे में मैं इतना निश्चित नहीं हूँ—मुझे मालूम है कि ऐसे कुछ मामलों में पुरानी आसक्तियाँ बनी रहती हैं जो भौतिक चेतना के मुक्त होने में रुकावट डालती हैं, वरना वे उन आसक्तियों से छूट जाते।

१४ जून १९३५

निस्सन्देह पहले मैंने प्रेम की लहरों को अनुभव किया है जो दब गयीं या बिखर कर डूब गयीं, या फिर कामुक-क्रिया में बदल गयीं। लेकिन आज बात अलग है। अब यह ठीक-ठीक वह "प्रेम" नहीं है जिसका मैं पहले ही अनुभव कर चुका हूँ, न ही यह ठीक-ठीक शान्ति है। इसलिए मैं पञ्चपदी पद में इसका वर्णन इस तरह करता हूँ :

"एक नीरव कोमलता चैत्य-केन्द्र को चुरा रही है।"

सम्भवत: चैत्य माधुर्य? ऐसा बहुतेरे अनुभव करते हैं जब चैत्य अपने-आप ही सक्रिय होना आरम्भ कर देता है।

छानने से मेरा मतलब है कि जो लोग पर्याप्त रूप से सच्चे नहीं हैं वे समय के साथ अपने-आप ही यहाँ से चले जायेंगे, क्योंकि शक्ति का दबाव उनके लिए अप्रिय हो जायेगा। लेकिन जो लोग यहाँ रह रहे हैं उन्हें मैं योग्यता का 'सर्टिफ़िकेट' नहीं दे रहा। क्योंकि हो सकता है कि जो यहाँ रहने के इतने योग्य न हों, लेकिन यहाँ से न जाने का दृढ़ निश्चय कर लें जब कि शायद जो यहाँ रहने के ज़्यादा योग्य हों वे किसी बिन्दु पर बहुत अधिक कमज़ोर हों।

मेरी समझ में यह बात नहीं आयी। व्यक्ति के यहाँ से न जाने के कई कारण हो सकते हैं जिनका साधना के साथ कोई सम्बन्ध न हो या बस यह वजह हो सकती है कि व्यक्ति को किसी तरह के

दबाव का अनुभव नहीं होता है। तब छानने-जाँचने की प्रक्रिया का निष्कपटता से कोई लेना-देना ही न होगा। इन मामलों में व्यक्ति सचमुच दुर्बल तब होता है जब वह विरोधी शक्तियों की योजना के हाँके चलता है, जब उसके अन्दर इनके विरुद्ध अपनी रक्षा की पर्याप्त जागरूकता नहीं होती या प्रहार के प्रति इतना अज्ञान होता है (यह बात उसकी समझ में ही नहीं आती कि ये सब विरोधी शक्तियों की चालें हैं) कि वह उन शक्तियों के बहाव में बह जाता है।
१५ जून १९३५

मैं फ़्रेंच में बालज़ाक का एक उपन्यास पढ़ रहा था और एक तरह से मैंने अनुभव किया कि उसमें साधारण प्रेम और शादी के बारे में ही अधिकांश बातें थीं। अचानक मेरे अन्दर उसी रोज़ उसे पढ़ना छोड़, एकदम परे हटा देने का आवेग जागा। उस समय पुस्तकालय में पवित्र थे और उन्होंने मेरे लिए "Civilisation" (सभ्यता) पुस्तक चुनी जिसमें महायुद्ध की छोटी-मोटी घटनाएँ हैं, विशेष रूप से युद्ध के हस्पतालों की। मैं सवेरे ८ से ९—काम के समय—वह पढ़ रहा हूँ, और यह पुस्तक काम में बाधा नहीं देती। बहरहाल, आज दोपहर, अहन् की दी हुई कुछ कसरतें जब मैं कर रहा था तो मुझे बेचैनी महसूस होने लगी, वह प्रायः कामुक-संवेदना की हद तक पहुँच गयी। क्या यह श्रीमाँ के द्वारा आया हुआ दबाव न था कि काम के समय मुझे नहीं पढ़ना चाहिये? कुछ समय के लिए मुझे ऐसा लगा, लेकिन मैं जानता हूँ कि माँ इस पर विशेष रूप से कोई ज़ोर नहीं देतीं, और चूँकि मैंने काम में कोई लापरवाही नहीं बरती, मैंने अपने-आपको आश्वासन दिया। ठीक-ठीक मुझे क्या करना चाहिये? मैं फ़्रेंच इसलिए नहीं पढ़ता कि अपने-आपमें यह दिलचस्प है, बल्कि इसलिए कि आपने कहा कि यह उपयोगी हो सकती है। अगर स्वयं फ़्रेंच के लिए मुझे फ़्रेंच पढ़नी होती तब तो मैं ज़्यादा पसन्द करता कि संस्कृत, जर्मन और "शॉर्टहैण्ड" सीखूँ। फिर भी, जैसा कि आपने कहा, यह एक आवेश है जो सन्तोष देता है। लेकिन अगर यह ज़रूरी न हो तो मैं फ़्रेंच पढ़े बिना भी रह सकता हूँ, हालाँकि जब मैं इसे हाथ में लेता हूँ तो बाक़ी सब कुछ भूल-भाल कर इसी में निमग्न हो जाता हूँ। बहरहाल, फ़्रेंच पढ़ना रोकने के लिए क्या मेरे ऊपर कोई दबाव डाला जा रहा है?

नहीं, फ़्रेंच पढ़ना रोकने के लिए एकदम से कोई भी दबाव नहीं है। और हो भी क्यों भला? मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हारे अन्दर जो बेचैनी उठ रही है उसका पढ़ने से क्या सम्बन्ध है—बजाय इसके कि यह कोई पुरानी बात हो जो यान्त्रिक रूप से तुम्हारे अन्दर उठ रही है। लेकिन शायद यह वातावरण में उठी कोई लहर हो जिसने तुम्हारे पास से निकलते हुए तुम्हें छू दिया हो—ऐसी चीज़ें बहुत बार होती हैं।

मुझे सपना आया कि श्रीमाँ आधे दिन के लिए बम्बई गयीं, और हम शाम के छह बजे उनके आने की बाट जोह रहे थे। बहरहाल, एक अफ़वाह यह भी फैल गयी कि हो सकता है कि माँ वापस ही न आयें, क्योंकि गाँधी के साथ उनका कोई काम था। द्युमान् के पास जाकर मैंने पूछताछ की। उसने कहा कि यह सम्भव ही नहीं है और यह कि वे जल्दी ही लौट आयेंगी। फिर हमने छोटे बालोंवाली एक महिला को—जिनके साथ दो हिन्दू महिलाएँ भी थीं—आते हुए देखा। मैंने अपने-आपसे कहा कि यह गाँधी की कोई शिष्या होगी क्योंकि गाँधी को महिलाओं के छोटे बाल पसन्द हैं और जब-जब सम्भव हो वे यह करवा देते हैं। कुछ समय बाद माँ आ गयीं और सारा वातावरण शान्ति और हर्ष में परिवर्तित हो गया। शायद सूक्ष्म स्तरों पर घूमती हुई वे गाँधीवादी रचनाएँ हों।

ऐसा ही लगता है। लेकिन प्राणिक स्तर पर हर तरह की चीज़ें घटा करती हैं—सम्पर्क, ऐसे क्रिया-कलाप जो इस तरह की स्वप्न-रचनाएँ बन जाते हैं।

१६ जून १९३५

जसवन्त ने मुझे बताया कि कैसे प्रेमानन्द बात-बात पर उसका अपमान करता ही रहता है। अभी उस दिन प्रेमानन्द ने गिरधरलाल से कहा कि जसवन्त हरिन् के बारे में बुरी बातें कह रहा था, यहाँ तक कि उसे इस तरह के पत्र भी लिख रहा था। मुझे इससे ज़्यादा ब्योरे नहीं मालूम, लेकिन मैं जानता हूँ कि प्रेमानन्द के अन्दर जसवन्त के लिए घृणा की बहुतायत है, और उसी घृणा की वजह से शायद वह यह सब कर रहा हो। लेकिन जसवन्त अपने-आपको इतना अपमानित होने ही क्यों देता है कि उसे अपने कमरे में जाकर रोना-बिसूरना पड़ता है? या तो उसे इन सब चीज़ों के बहुत परे रहना होगा या फिर इन्हें एकदम नीचे भौतिक स्तर पर लाकर चकनाचूर कर देना होगा। लेकिन चूँकि वह इसे करने से डरता है, इसीलिए सारे समय कुछ नहीं कर सकने की असमर्थता के इसी भाव में जीता रहता है। साथ ही, उसे प्रेमानन्द से कितनी घृणा है यह तो सभी को दिखायी देता है। कभी-कभी जसवन्त लोगों के बारे में बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करता है, लेकिन जब वह अमुक लोगों के बारे में बोलता है तो वह तुम्हें उनके बारे में घृणा से लबालब भर देता है। दरअसल, मैंने प्रेमानन्द से कठोर भाषा में बोलने का प्रायः निश्चय कर लिया है ताकि उसकी समझ में कुछ तो आ जाये। लेकिन प्रेमानन्द मेरे साथ भी यही करता है, जब वह किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में मुझसे बातें करता है जिससे उसे नफ़रत हो—मैं कुछ समय के लिए उसी भावना में ऊभ-चूभ करता रहता हूँ, जब कि सामान्यतया मैं ऐसी भावना को अपने अन्दर मुश्किल से रख पाता हूँ। कुछ

भी हो, यहाँ जसवन्त या प्रेमानन्द के लिए क्या किया जा सकता है और भला कब तक वे एक-दूसरे के लिए अपनी इस घृणा को पाले रखेंगे? दूसरों का अपमान करने की प्रेमानन्द की इस आदत के बारे में क्या आप कुछ नहीं कर सकते?

हर एक को अपनी ग़लत प्रतिक्रियाओं से पल्ला छुड़ाना ही होता है—वे इसी के लिए यहाँ हैं। इसके अलावा और क्या उपचार है? अगर हम इसे करने के लिए तैयार नहीं हैं तो हम साधारण जीवन की ही सतह पर बने रहते हैं जहाँ व्यक्ति को बड़े परिवार में जैसा चलता है उसी तरह जीना पड़ता है—लड़ाई-झगड़ों में पड़ना, मेल-मिलाप कराना, कभी सहलाना-पुचकारना तो कभी डाँट-डपट लगाना, भाषण देना—यानी, अगला बखेड़ा खड़ा होने के पहले पिछले झमेलों को समेटना। इस चीज़ का कोई अन्त नहीं है और हमने इसको एक अरसा हुआ, छोड़ दिया। हर एक को अपने-आप ही स्वयं को सुधारना होगा—इससे बाहर निकलने का और कोई रास्ता नहीं है।

मैंने देखा कि रात को, विशेषकर एक बजे के बाद मैं बिलकुल नहीं सोता। बीच-बीच में उठ कर चलने लगता हूँ, दोबारा सोने की कोशिश करता हूँ, और यह तथाकथित नींद सपनों से भरी होती है। इसमें सन्देह है कि अर्ध-जाग्रत् अवस्था में क्या ये सपने हैं या विचार, क्योंकि इनमें स्वप्न की गहराई नहीं होती। सवेरे मुझे नींद की अपर्याप्तता महसूस होती है, लेकिन बाद में मुझे कुछ नहीं लगता।

मेरी समझ में नहीं आता कि आजकल क्यों इतने सारे लोग नींद नहीं आने की परेशानी भुगत रहे हैं। शायद गरमी हो इसका कारण?

१७ जून १९३५ **श्रीअरविन्द**